मूल्य अठारह रुपये (18 00)

प्रथम संस्करण 1980

GARDISH KE DIN (Reminiscences) by Kamleshwar

गर्दिश के दिन

कमलेश्वर

बारह प्रमुख भारतीय लेखकों के आत्म कथ्य



राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

भूमिका

'गर्दिश के दिन' भारतीय लेखकों के अपने आत्मकथ्य है—केवल उनकी अपनी भीतरी दुनिया के नहीं, बल्कि बाहर की दुनिया से जुड़ने और लड़ने के दौरान जो कुछ उन्होंने अनुभव किया है और रचनात्मक संघर्ष के जिस दौर से वे लगातार गुजर है—उसी सिलसिले का एक आत्मिक और समयगत कथन इन रचनाओं का आधार है।

कहानी या कथाकार को भाषाओं की सीमा में बद्ध नहीं रखा जा सका है। आज का लेखक भाषा को अपनी मजबूरी मान सकता है पर चिंतन को अपनी भाषा तक सीमित रखने से सहमत नहीं है—इसीलिए आज वह कोई भी रचना, जो अपनी भाषा में लिखी जाती है, वह वैचारिक स्तर पर अपनी भाषा की नहीं रह जाती, बल्कि भारतीय सोच की विस्तृत दिशाएं उजागर करती है। इसीलिए लेखकों के यह आत्मकथ्य भी किसी प्रदेश या भाषा की मानसिकता का नहीं—बल्कि भारतीय मानसिकता का रचनात्मक और संघर्षपूर्ण विवरण पेश करते है—यह जितने आत्मीय हैं, उतने ही अनात्म भी क्योंकि इनमें लेखक मात्र लेखकीय दर्प या दंभ का बाना पहनकर नहीं आता, वह अपने को अपने समय के भारतीय सामान्य जन के समकक्ष रखकर, उसी की तरह दुःख सुख, यातनाओं, अन्याय से भरी आत्मकहानी को समय की गर्दिश में देखता है।

इस गर्दिश से सभी गुजरे हैं—और अभी बहुत से संघर्षशील लेखकों को इसमें गुजरना पड़ेगा, उन लेखकों को खासतौर से जो 'ललित-लेखन' के पक्षधर नहीं हैं बल्कि दलित लेखन के लिए प्रतिबद्ध हैं।

यह ऐसे ही भारतीय लेखकों की अपनी गर्दिश का विवरण भरी कहानियां हैं।

'सारिका' के सम्पादन काल में यह धारावाही स्तम्भ प्रकाशित करना

क्रम

मोहन राकेश

आठ फरवरी, सन् 1941 को अमृतसर के एक प्रतिष्ठित नागरिक का देहांत हुआ। वह एक जागरूक कार्यकर्ता तथा कई एक साहित्यिक और सांस्कृतिक संस्थाओं के पदाधिकारी थे।

उनकी मृत्यु के दो एक घंटे बाद उनके शव के पास दो तरह का शब्द सुनाई दे रहा था। एक शब्द था घर में लोगों के रोने चिल्लाने का, और दूसरा था एक व्यक्ति का गला फाड़ फाड़कर धमकियां देने का। धमकियां देने वाला उस मकान का मालिक था जिसमें वह प्रतिष्ठित नागरिक लगभग पंद्रह साल तक रहे थे। मालिक मकान का कई महीनों का किराया उनपर बाकी था और वह कह रहा था कि जब तक किराया अदा नहीं किया जाता, वह मुर्दा नहीं उठने देगा।

कुछ देर में धमकियों का शब्द शांत हो गया। मृतक की विधवा की सोने की चूड़ियां, जो वैसे भी उतरती, उतारकर मालिक मकान को दे दी गई। इस तरह मालिक मकान ने मुर्दे को अपने बंधक से मुक्त कर दिया।

उन प्रतिष्ठित नागरिक का नाम था श्री करमचंद गुगलानी। वह वकालत करते थे। उनका बड़ा लड़का मदन, जो उस घटना के समय अपना सिर बांहों में डाले घर की सीढ़ियों में बैठा था बाद में मोहन राकेश के नाम से हिंदी में कहानियां लिखने लगा।

मदन को इस नाम से लिखते अब कई साल हो गए हैं, मगर जब-तब उसे लगता है कि यह नाम उसके लिए बहुत पराया है—इस नाम ने उसके वास्तविक नाम को उसी तरह छा लिया है जैसे कई बार जीवन की रूमानी कल्पनाएं व्यक्ति की यथार्थ दृष्टि को छा लेती हैं।

लिखने का उत्साह उसे अपने पिता से, अपने घर के वातावरण में ही प्राप्त हुआ था। हर शाम को पिता की बैठक में उनके मित्रों की मंडली

एकत्र होती थी। आधी आधी रात तक उनमे वाल्मीकि से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक की आलोचना प्रत्यालोचना चलती रहती थी। मदन एक तरफ कोने म बठा सुना करता। सस्कृत का विद्यार्थी होने के कारण वह उन दिनो उस भाषा मे गद्य और पद्य-रचना का अभ्यास भी किया करता था। उसके अध्यापक, पडित राधारमण, उसके पद्यो मे व्याकरण की अशुद्धिया निकाला करते थे। जब किसी पद्य मे उन्हे अशुद्धि न मिलती तो इस तरह सदेहपूर्ण दृष्टि स उसे देखते जैसे उसने कोई अपराध कर डाला हो।

रचना का उत्साह रचना की प्रेरणा नही है, यह बात मदन नही जानता था। उसके लिए अपना उत्साह ही सब कुछ था। पिता की मत्यु के कुछ समय बाद वह सस्कृत से हटकर हिन्दी मे लिखने लगा। उसकी दीदी ने लिखने के लिए उसे नया नाम चुन दिया। इस नाम म लिखी उसकी पहली कहानी 'सरस्वती' म प्रकाशित हुई।

पिता की मत्यु के दिन की घटना से उसके हृदय मे एक रिसता हुआ बिंदु बन गया था जिसे वह किसी तरह भुलाए रखना चाहता था। जीवन का वह विरूप अनुभव उसकी दष्टि मे उसके व्यक्तित्व का एक आहत पक्ष था जिसे उसे अपने तक ही सीमित रखना था। चेतन स्तर पर उसके रचना के उत्साह म उस बिंदु का कोई योग नही था। वह नही समझता था कि उसके लिखे शब्दो मे अनायास ही जो एक कटुता घुल जाती है उसका वास्तविक स्रोत अदर का वह रिसता हुआ बिंदु ही है।

विभाजन के दिनो मे वह लाहौर मे था। उस विभीषिका ने उसे वहा से खदेड दिया। उन दिनो उसे जीवन के जिस विरूप का परिचय मिला वह सन इकतालीस म अपने घर मे देखे हुए विरूप स कही बडा, कही अधिक नृशस था। विस्फोट, अग्निकाड, हत्या, लूटपाट और पाशविक बलात्कार! पद्रह अगस्त के दिन वह अमृतसर मे था। वहा से दिल्ली होता हुआ आजीविका की खोज म बम्बई पहुचा, तो उसके अदर का वह बिंदु पहले से कही गहरा हो चुका था। रात को बोरीबदर स्टेशन पर गाडी स उतरने पर एक नया अनिश्चित भविष्य उसके सामने था और उस भविष्य को आकार देने के लिए एक नया शहर था—अपनी

चकाचौंध मे गुम और अपनी मशीनी गति मे अवसन्न ।

वह कई महीने बेकार रहा । भूखा रहा । फुटपाथ पर सोया ।

इस बीच उसे शिमला से एक पत्र मिला । पत्र उसीका था जिसके साथ एक सूत्र मे बधकर उसने जीवन बिताने का निश्चय कर रखा था । उसने लिखा था कि वह दो एक सप्ताह के लिए ही वहा आई है । उसे बुलाया था तुरत । लिखा था कि आगे के जीवन का निर्णय उसके वहा आने पर ही निर्भर करता है ।

मदन के पास शिमला पहुचने तक के लिए किराये के पैसे नही थे । उधार की व्यवस्था भी वह नही कर सकता था । वह नही जा सका । अपनी असली विवशता को छिपाकर उसने पत्र मे और और बातें लिख दी । उस पत्र का उत्तर नही आया । उसके बाद भी उसने कितने ही पत्र लिखे परतु उनका भी उत्तर नही आया । कुछ दिनो बाद सूचना मिली कि वह न जाने किस रोग से चल बसी है ।

अदर का बिंदु पगला उठा ।

वह पागलो की तरह यहा से वहा घूमता रहता । बिजली की गाडिया, बसो के लम्बे-लम्बे क्यू, मूसलाधार वर्षा और छाते लिए या बरसातिया पहने मशीनी गति से सडकें पार करते हुए लोग । हर मोड पर कोई न कोई चीज उस बिंदु से टकरा जाती, जिससे वह और रिसने लगता । मदन को लगता कि वह भीड एक समुद्र है जिसमे उसे हताश भाव से जिंदगी भर हाथ पैर मारते रहना है और कभी किसी किनारे से लगने की सभावना नही है ।

परतु जुहू मे रेतील विस्तार पर खडे होकर समुद्र की उमडती हुई लहरो को देखने मे उसे बहुत सतोष मिलता था । वह घटो वहा टहलता रहता । लहरो पर तैरकर आते हुए लहरो के पोत, नीचे को झुका हुआ आकाश, दूर की चमकती हुई रेत सध्या और रात के सगम का सुरमई विस्तार, हवा का मासल स्पर्श, दूर से सुनाई देती हुई लोरियो जैसी आवाज, किनारे की टिमटिमाती हुई उदास बत्तिया—इन सबसे अदर के बिंदु को कुछ सहारा मिलता था । वह वातावरण कोमल हाथो से उस बिंदु को सहलाता सा लगता था ।

जीवन की गति तेज हो रही थी। नौकरी मिली और छूट गई। फिर बेकारी। फिर नौकरी, और फिर बेकारी, भटकन और अस्थिरता। यहां से वहां, वहां से और कहीं। नये नये परिचय, नये नये आघात। परिस्थितियों की नई नई चुनौतियां। कोमल तातों के ताने-बाने बुनने के नये नये प्रयत्न। नये आकर्षण, नई असफलताएं, नये प्रयत्न।

लिखना लगभग छूट गया था। वह मात्र बचपन का उत्साह लगता था। जीवन के विशाल के परिचय और संपर्क से मन की गहराइयों में जो उथल-पुथल होती थी, नई नई पीड़ाएं अंदर के बिंदु पर जो सूक्ष्म चिह्न छोड़ जाती थी, जीवन की संगति अपने व्यक्ति सदर्भ की जो वास्तविकता सामने लाती थी उस सबके सामने अपना आप असमर्थ लगता था और उस असमर्थता में रचना का प्रयत्न खोखला जान पड़ता था। बच्चों के हवा में गुब्बारे उड़ाने की तरह खोखले शब्दों को हवा में उछालने की सार्थकता ही क्या थी?

आसपास जीवन का बाह्य रूप और आंतरिक मान्यताएं जल्दी जल्दी बदल रही थीं। वह इस बीच कई जगह रह चुका था। जोधपुर, बम्बई, दिल्ली, जालंधर, शिमला और फिर जालंधर। इनके अलावा और भी कितनी ही जगह घूम भटक चुका था। एक बार घर बनाकर उसे ढहते भी देख चुका था। जीवन किसी सांचे में ढलता ही नहीं था। मन की अस्थिरता ज्यों-की त्यों थी। अंदर का असंतोष भी उसी तरह था। हां, रिसता हुआ बिंदु अब उस तरह नहीं रिसता था

क्या वह बिंदु धीरे धीरे सूख रहा था या किसी और रूप में परिणत हो रहा था? उसका लिखने का उत्साह फिर लौट आया था। परंतु अब भी क्या वह केवल उत्साह ही था? या क्या अंदर के बिंदु की परिणति से साथ उसका कुछ सम्बन्ध था?

उसे लगता था कि वह उत्साह अब उत्साह नहीं, एक समर्पण है। यह भी लगता था कि व्यक्ति रूप में वह बहुत गौण है, उस रूप में कोई भी व्यक्ति बहुत गौण है। व्यक्ति की सार्थकता एक विशाल सदर्भ के अंतर्गत उसकी स्थिति के कारण ही है। वह सोचता कि क्या उसका समर्पण अंदर के बिंदु के प्रति ही है या उस विशाल सदर्भ के प्रति भी? और वह

समर्पण केवल एक विवशता, निरर्थक, अहेतुक विवशता तो नहीं है ? उसके पीछे क्या एक व्याकुलता भी है—अंदर के बिंदु के लिए एक बृहत्तर और गुरुतर के सरस पान की व्याकुलता ?

अब भी बार-बार उसके मन में यह प्रश्न उठता है कि वह क्या लिखता है ? क्या केवल अपनी व्याकुलता, अपनी पीड़ा को दूसरों तक प्रेषित करने के लिए ही ? परंतु अपनी पीड़ा के अनुभव से दूसरों को पीड़ा देने में क्या सार्थकता है ? क्या वह ऐसे पर पीड़न का सुख चाहता है ? अपनी पीड़ा का प्रतिशोध चाहता है ? यदि ऐसा कोई उद्देश्य उसे प्रेरित करता है, तो क्या उसे उससे लड़ना नहीं चाहिए ?

परंतु पीड़ा का संप्रेषण दूसरों में पीड़ा की सृष्टि के लिए न होकर उनमें पीड़ा के प्रति एक संवेदनशीलता जगाने के लिए भी तो हो सकता है। क्या ऐसा है ?

परंतु अपने अवचेतन का ठीक-ठीक विश्लेषण वह कैसे कर सकता है ? इस तरह का विश्लेषण करने के लिए जो तर्कबुद्धि चाहिए, वह क्या कुछ इने गिने मनस्वियों को ही प्राप्त नहीं होती ? और हर रचनाधर्मी मनस्वी कहा होता है ?

मैंने अपनी शुरू-शुरू की कहानियां जिन दिनों लिखीं—उनमें से कई एक 'इनसान के खंडहर' में (भी) संकलित नहीं हैं—उन दिनों कई कारणों से मैं अपने को अपने तब तक के परिवेश से बहुत कटा हुआ महसूस करता था। जिन व्यक्तियों और संस्कारों के बीच पलकर बड़ा हुआ था, उनके खोखलेपन को लेकर मन में गहरी कटुता और वितृष्णा थी। घर की पूरी जिम्मेदारी सिर पर होने से उसे निभाने की मजबूरी से मन घबराता था। मैं किसी तरह अपने को विरासत के सम्बन्धों से मुक्त कर लेना चाहता था, परंतु मुक्ति का कोई उपाय नहीं था। छोटा भाई इतना छोटा था, बड़ी बहन इतनी संस्कारग्रस्त और मां इतनी असहाय कि मेरी 'स्वतंत्रता' की भूख कोरी मानसिक उड़ान के सिवा कुछ महत्त्व नहीं रखती थी। मेरी शुरू की कहानियां इसी मानसिकता की उपज थीं।

एक छोटा-सा दायरा था तीन-चार दोस्तों का। वे सब भी किसी न-

किसी रूप में अपने अपने परिवेश से ऊबे या कटे हुए लोग थे। किसी भी रचना की सार्थकता इसी में थी कि कहाँ तक उससे उस दायरे की मानसिक अपेक्षाओं की पूर्ति होती है। हममें से दो आदमी, मैं और मेरा एक और साथी, संस्कृत में एम० ए० कर चुके थे, एक अंग्रेजी में एम० ए० कर रहा था और दो एक लोग पत्रकारिता के क्षेत्र में थे। मेरे संस्कृत के सहपाठी को छोड़कर हम सबके लिए लाहौर की ज़िंदगी नई चीज़ थी और हम लोग ज़्यादा-से-ज़्यादा समय घर से बाहर रहने के लिए पूरा-पूरा दिन माल पर कॉफी हाउस या चैनीज़ लंचहोम से लेकर स्टैंडर्ड और लोरेंग बार के बीच बिता दिया करते थे। हम इस 'जीवन बोध' में दीक्षित करने वाला व्यक्ति मेरा सहपाठी ही था, जो पंजाब मंत्रिमंडल के एक सदस्य का दत्तक पुत्र होने के नाते हम सबसे अधिक साधन-सम्पन्न था। क्योंकि जुमलेबाज़ी उसकी बहुत बड़ी विशेषता थी, इसलिए हम सब, उससे प्रभावित होने के कारण, कॉफी-हाउस से लेकर साहित्य तक हर जगह को सिर्फ जुमलेबाज़ी का अखाड़ा मानते थे। इसलिए यह अस्वाभाविक नहीं था कि अपने ढंग से हम अपनी कहानियों में जुमलेबाज़ी का अभ्यास करते। पर उसी शब्दों के अतिरिक्त मोह के कारण आज उस समय की रचनाएं (इतनी) बेगाना लगती हैं।

सन् पचास से सन् चौवन के बीच का समय मेरे लिए काफी उथल-पुथल का समय था। विभाजन के बाद काफी दिनों तक बेकारी की मार सहने के बाद बम्बई के शिक्षा विभाग में जो लेक्चररशिप मिली थी, वह सन उनचास में छिन गई थी। कारण था आँखों का निर्धारित सीमा से अधिक कमज़ोर होना। उसके बाद बेरोज़गारी के कुछ दिन दिल्ली में कटे, फिर जालंधर के डी० ए० वी० कालेज में लेक्चररशिप मिल गई। लेकिन छह महीने बाद सन पचास के शुरू में बिना कनफर्म किए उस नौकरी से भी हटा दिया गया। इस बार कारण था 'टीचर्ज़ यूनियन' की गतिविधि में सक्रिय भाग लेना। जिन साथियों के भरोसे अधिकारियों की दमन नीति का विरोध किया था, उनके बिदक जाने से खासा मोहभंग हुआ। बेरोज़गारी का आतंक नये सिरे से सिर पर आ जाने से काफी दौड़ धूप करके शिमला के बिशप कॉटन स्कूल में नौकरी कर ली। परन्तु उत्तरोत्तर मोहभंग की प्रक्रिया

उसके बाद वर्षों तक चलती रही। जीवन के उखड़ेपन को समेटने के इरादे से सन् पचास के अन्त में विवाह कर लिया, पर वह भी एक और स्तर पर मोहभंग की शुरुआत थी। सन् बावन तक आते आते परिस्थितियों की पकड़ इस तरह कसने लगी थी कि आखिर नौकरी छोड़ दी। तय किया कि जैसे भी हो अपनी 'स्वतन्त्रता' बनाए रखते हुए केवल लेखन पर निर्भर रहकर न्यूनतम साधनों में गुजारा करने की कोशिश करूंगा। लेकिन यह अभियान भी ज्यादा दिन नहीं चल सका नये सिरे से नौकरी की तलाश में जुट जाना पड़ा। कई जगह कोशिश कर चुकने के बाद जब मन लगभग हारने लगा तो एक व्यंग्यात्मक स्थिति सामने आई। जालंधर के डी० ए० वी० कॉलेज में, जहां तीन साल पहले हिन्दी विभाग में पांचवीं जगह पर 'कनफर्म' नहीं किया गया था, वहीं पर अब विभागाध्यक्ष के रूप में बुला लिया गया। मुझे नौकरी तो मिल गई, पर मोहभंग की वह प्रक्रिया जो वहां से जाने के समय शुरू हुई थी, वह तब तक वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक, कई-कई स्तरों पर अपने चरम तक पहुंचने लगी थी।

दूसरी बार जालंधर में नौकरी करने से पहले खानाबदोशी के दौर में कहानियां नहीं लिखी गईं। बिशप कॉटन स्कूल से नौकरी छोड़ने और डी० ए० वी० कालेज, जालंधर में वापस आने के बीच केवल पश्चिमी समुद्र-तट का यात्रा विवरण लिखा जो 'आखिरी चट्टान तक' दीपक से प्रगति प्रकाशन से (ही) प्रकाशित हुआ। लम्बे अरसे के बाद जो पहली कहानी लिखी, उसका शीर्षक था 'सौदा'। यह कहानी जो कि 'कहानी' में प्रकाशित हुई, मेरी पहले की कहानियों से इतनी अलग थी कि एक तरह से उसे मेरे लेखन के उस दौर की शुरुआत माना जा सकता है, जिसमें आगे चलकर 'उसकी रोटी', 'मर्दी', 'मलबे का मालिक', और 'जानवर और जानवर' जैसी कहानियां लिखी गईं अपने परिवेश से कट होने की अनुभूति का स्थान एक सर्वथा दूसरी अनुभूति ने ले लिया था और वह थी जुड़े होने की अनिवार्यता की अनुभूति। एक तरह की कड़वाहट इस अनुभूति में भी थी। पर वह कड़वाहट निरर्थक और आरोपित नहीं थी। उसका उद्देश्य भी जुड़े होने की स्थिति से मुक्ति पाना नहीं, उसकी

तात्कालिक शर्तों को अस्वीकार करते हुए जुड़े रहने के सार्थक सदर्भो को खोजना था

डी० ए० वी० कॉलज, जालधर, म दूसरी बार की नोकरी मेरी जिन्दगी की सबसे लम्बी नोकरी थी। चार साल चार महीन उस नौकरी म काटन के बाद सन् सत्तावन के अत म मैंन वहा स भी त्यागपत्र दे दिया। उसस पहल सन् सत्तावन के अगस्त महीन म सम्ब ध विच्छेद के कागज पर हस्ता क्षर करके अपने असफल विवाह सम्बन्ध से भी मुक्त हो चुका था। इस बार यह पक्का निश्चय था कि चाहे जो कुछ झेलना पडे, अब फिर कहा नौकरी नहीं करूगा। मगर यह निश्चय फिर दो बार टूटा। एक बार दो महीन के लिए और दूसरी बार लगभग एक साल के लिए। पहली बार कोरे आर्थिक दबाव के कारण, जबकि सन् साठ म दिल्ली विश्वविद्यालय में लेक्चररशिप ले ली, पर ज्यादा दिन निभा नहीं सका। दूसरी बार एक नय क्षेत्र म अपने को आजमाने के आकर्षण स, जबकि सन् बासठ म 'सारिका' का सपादन कार्य सभाला। डी० ए० वी० कॉलेज, जालधर म त्यागपत्र देन और 'सारिका' सपादक की केबिन में जा बैठने के बीच एक साल जालधर में ही रहा और लगभग तीन साल दिल्ली म। इन चार सालो मे पहला बडा नाटक लिखा, 'आषाढ का एक दिन', और पहला उपन्यास, 'अधेरे बद कमरे'। इन दो रचनाओ के अतिरिक्त कई एक कहानिया भी लिखी इस दौर की अधिकाश कहानिया सम्ब धो की यत्रणा को अपने अकेलेपन में झलते लोगो की कहानियां हैं जिनम हर इकाई के माध्यम से उसके परिवेश को अकित करने का प्रयास है

सन तिरेसठ के शुरू म 'सारिका' छोडने के बाद से फिर से किसी नौकरी मे जाने की नौबत नही आई

लोग बहुत कैलस हैं। अकेलेपन अजनबीपन और आत्महत्या, इन्हें फैशनेबल चीजें समझते है, जसे कि क्रिश्चियन दि ओरके फैशन जनल में से ली गई हो। इसलिए कहने को मन होता है कि हमारे आत्म को कथ्य की अपेक्षा ही नही क्योंकि आत्म शाश्वत है और कथ्य—वह तो रोज बदल सकता है इसलिए आज इस समय हमारे आत्म द्वारा जो कुछ

लिखा जा रहा है, वह भी कल तक गलत हो सकता है

पर यह सब झंझट है। लोग ऐसी बातें याद रखते हैं और गलत वक्त पर उलटे सीधे सवाल करके परेशान करते हैं। इसलिए सबसे अच्छा है कि अपनी तरफ से सवाल ही किए जाए

नई कहानी की पीठिका के साथ मेरा सम्बन्ध किन स्तरो पर है और उसकी मानसिकता के विषय मे मेरी क्या धारणाए है, इस विस्तार मे यहा नही जाऊगा। केवल इतना कहना चाहूगा कि मैं उसे एक निरतर विकासशील दृष्टि के रूप मे लेता हू जिसकी आतरिक सभावनाए किसी तरह के विराम चिह्न से अकित नही की जा सकती।

मैं वयक्तिक और साहित्यिक, दोनो स्तरो पर अपने को जिंदगी से जुडा हुआ पाता हू—पर जुडे होने का अथ जिंदगी की सब परिस्थितिया को स्वीकार करके चलना नही है। जिंदगी मे बहुत कुछ है जिसके प्रति विद्रोह और आक्रोश मेरे मन मे है पर वह सब जिंदगी के ऐतिहासिक उफान के अतगत आता है। वह आज जैसा है, कल वैसा नही रहेगा। नही रहना चाहिए और उसके बदलन की ऐतिहासिक चेतना मेरे साक्षीत्व की अनिवाय शत है। इस विद्रोह और आक्रोश की ही कुछ परिस्थितिया हैं जिनमे मैं कई बार अपने को अकेला भी पाता हू। पर यह अकेलापन जूझने की एक स्थिति है किसी तरह का अलगाव नही। यह जिंदगी से अकेला होना नही है, जिंदगी के बीच अकेला पडकर अपने जुडे होने का निर्वाह करना है

यायावर के जीवन का सबसे बडा सतोष या असतोष इसमे है कि उसका रास्ता कभी समाप्त नही होता। वह चाहे जितना भटक ले, नई अनजान पगडडिया का मोह उसके दिल से कभी नही जाता जो गुजर चुका है वह उसके लिए दृश्य है—उस दृश्य के अतगत अपना आप भी। कल रात तक जो दुघटना थी अब वह उसके लिए एक रोमाचक घटना है। अब नई पगडडी उसके सामने है। उससे पूछा जाए कि कमबख्त, तू इतनी जोखिम उठाकर भी जोखिम के रास्ते पर चलने से बाज क्यो नही आता तो वह सिफ मुस्करा देगा, क्योकि जिस दिन वह यह जान लेगा, उस दिन वह यायावर नही रहेगा।

एम० टी० वासुदेव नायर

मैं मुख्य रूप से कहानियाँ लिखता हूँ। छोटी कहानी के रूप में [illegible]
[illegible] थे। और उन्हीं [illegible] सकते हैं जो
लिख रहा हूँ। आज उन्हीं दुख और विषाद भरी कहानियाँ लिखता हूँ।
[illegible] उत्पन्न मन उदास रहता है।
दाग लिखते समय क्या इसपर भी ध्यान न करूँ?

[illegible] शुरू से [illegible] गंभीर स्वर था जिसकी
[illegible] उसकी [illegible] नहीं की जा सकती। [illegible]
की राजधानी त्रिवेन्द्रम [illegible] भेजा था।

[illegible] और विषाद की कहानियाँ क्यों लिखता हूँ? (जब मैं दुख की
बात करता हूँ तो मेरा मतलब किसी प्रेम [illegible] से उत्पन्न दुख को मारे
संसार का दुख मान लिए जाने वाले आत्मगत से नहीं।) यह सिर्फ मेरा
अपना प्रश्न नहीं। इस युग के प्रत्येक लेखक का प्रश्न है। आज हमारी
एक ही संवेदना रह गई है घृणा। वैसे ही हम पर हावी होकर रहने
वाली एक ही मानसिकता है—उदासी।

हम कभी किसी भी ऐसे युग से नहीं गुजरे जिसे रंगीन कहा जा सके।
मगर ऐसे युग के कुछ छोटे मोटे सपने हम निश्चय ही देखा करते थे।
उन्हें भी अब हम खो बैठे हैं। आज जीवन की परती जमीन पर हम
भटक रहे हैं। जिजीविषा आज उसके संकुचित एवं व्यापक दोनों अर्थों
में एक हड्डीतोड़ मशक्कत बन गई है। अनजाने में ही सम के बीज के
नये अंकुर की तरह हमारे खयालात व जज़्बात पनपने-बढ़ने की बजाय
अंदर की ओर मुड़ते जाते हैं।

समकालीन उपन्यासों को ही लीजिए। इन उपन्यासों के ज्यादातर
नायक जीवन की चौहद्दी के बाहर लक्ष्यहीन हो भटकने वाले और गम खाने
वाले बदसूरत (फ्रीक्स) होते हैं। शारीरिक मानसिक विकृतियों के वे

स्वामी हैं। पुठर ग्रास की 'टीन ड्रम', 'कट एंड द माउस', जान फाउलस की 'क्लेक्टर' वारसन मैकी वैरलेस की 'मार्निंग एंड ईवनिंग' ग्रादि कृतियां जरा स्मरण कर देखें। जिन पात्रों के साथ हमारी मुलाकात इन उपन्यासों में होती है, उनमें नब्बे फीसदी या तो 'फ्रीक्स' होंगे या फिर ग्रात्मा के ग्रकेलेपन में बंदी।

बिछुड़े हुए किसी सुनहरे ग्रतीत के हम स्वामी नहीं हैं, जिसकी खूबियों की जुगाली करते हुए हम ग्राह भरते रहें। खोई हुई पीढ़ी (दि लॉस्ट जेनरेशन) के मोहभंग समकालीन रचनाओं में पाए जाते हैं। इसका भी कोई ग्रासार नहीं कि किसी ग्रागामी सुवर्ण युग की रूपरेखा का सपना देखा करें। स्मरण करने के लिए हमारे पास वैयक्तिक जीवन में ग्रभाव के कुछ छोटे मोटे सुख ग्रौर नन्हे सुख ग्राह्लाद ही बचे हुए हैं।

मेरी सर्वप्रथम कहानी (भगवान की कृपा कि उसने रोशनी नहीं देखी) एक ग्रपंग भिखारी से प्रेरणा पाकर लिखी गई थी, जिसे एक सगड़ में बिठाए ढोए जा रहा था। रास्ते के उस दृश्य ने मुझमें क्रोध उत्पन्न किया होगा। सोचा होगा कि इस समाज में ऐसे भी लोग हैं, जहां धनी लोग सुख सुविधाग्रों के साथ जीवन जी रहे हैं।

ग्रब तो भिखारी ग्रंधे, लूले-लंगड़े, ग्रपाहिज हर गली व कूचे में दिखाई देते हैं। मगर ग्रब मैं उन्हें देखता हूं, मेरा क्रोध नीकार नहीं। उनको जन्म देनेवाली सामाजिक व्यवस्था को याद सचमुच मैं कभी नहीं करता। कारण, नगर की गलियों की भीड़-भाड़ से बचते हुए लक्ष्यस्थान की ग्रोर छूटते समय, एक ही ध्येय रहता है कि मौत का पैगाम लेकर भागने वाली गाड़ियों के नीचे ग्राकर पिस न जाऊं पसीने से तरबतर धक्का मुक्की करते हुए बढ़ने वाले लोगों के पैरों तले कुचल न जाऊं मोरी के पानी से ग्रभिषिक्त न होऊं। इसलिए क्या इनमें से कोई कथापात्र नहीं बन सकता? निश्चय ही बन सकता है। ग्रब भी एक कथा बीज मन में है। एक ऐसे काल्पनिक कथापात्र का रूप मन में कुरेदा करता हूं जो नगर के विभिन्न हिस्सों में जिंदा पुतलों को बांटा करता है, शाम को उन्हें एकत्रित कर दिन भर की कमाई ऐंठता है ग्रौर कोड़े से उन्हें नियंत्रित करता है। मगर ग्रब तो सब ने समाज के बारे में सोचना बन्द किया है।

सन 1947 में मैं नवप्रयाग कालिकट शहर में आया था। मैं उन दिनों नौवीं कक्षा का छात्र था। पिता के पीछे चलते चलते नगर नामक उस महाद्भुत वस्तु को देख मैं दंग रह गया था। मगर अब तो नगर यातनामय अस्तित्व की परिछाइयों को याद दिलाने वाली महज सचाई मात्र रह गया है।

इस नगर का किस्सा अब जगत का समाज का किस्सा बना हुआ है। उसके एक किनारे खड़ा हुआ लेखक इस बात के लिए सदा सावधान रहता है कि वह कहीं भीगा न जाए, उसपर कीच न छिटक पड़े, कुचला न जाए और अपना रैन-बसेरा में सही-सलामत पहुंच जाए।

इसका मतलब क्या यह है कि वह दुखी होकर सदा रोता धोता रहे? क्या वह हंसा न करे? जरूर हंस सकता है। कितने ही हंसते भी हैं। साथ वालों की हंसी हमें परेशान करती है। कुछ लोगों की हंसी हमारी दशा का मखौल उड़ाती है। कितनों ही की हंसने की नियामत ही नष्ट हो गई है।

कई लोगों को कहते हुए सुना गया है कि मुझे कुछ कहना था, इसीलिए मैं कहानी लिखने लगा था। मगर जहां तक मेरा सम्बन्ध है, बात ऐसी नहीं है। हारून अल रशीद के महल में ऐसे कहानीकार नियुक्त थे जिनका काम था कि राजदरबार को कहानी सुना सुनाकर मनबहलाव करें। खलीफाओं के अंत के साथ कहानीकारों का वह सुवर्ण युग भी समाप्त हो गया। अब हम इसलिए कहानी नहीं लिखते कि हमारे यहां सुनाने के लिए मनोरंजक कहानियों का जखीरा है, इसलिए भी नहीं कि कहानी लेखन मुनाफे का धंधा है। मलयालम के लेखकों को मिलनेवाला पारिश्रमिक नगण्य है। 'लाइब्रेरी' के सीजन में चार पांच पुस्तकें हर साल किसी तरह निकाल लें तभी यहां का कोई लेखक जी पाता है। लेखक का पेशा ग्लैमर का नहीं। नगर के सबसे बड़े उपन्यासकार की अपेक्षा किसी उद्योगपति या फुटबाल के खिलाड़ी को लोग अधिक जानते हैं।

मगर जब लेखक अपने से ही पूछता है तो यह पाता है कि यह सब

महत्वपूर्ण नहीं है। वह जीवन के शोर-हंगामे से परे किसी एक कूचे के किनारे कुटिया बनाकर जी रहा है। भीड़ में वह अकेला है। अपनी खिड़की से [illegible] समय उस युग के बीतते पल पर एक मार्ग-दीप से दूसरे मार्ग-दीप तक की पगडंडी दिखाई देती है। मुझे जितनी सदी हजार रातों में वह बाहर निगाहें लगाकर बैठा रहता है। ऊपर से गुज़रते कुछ स्त्रियों की आवाज़ें इसी राह आती हैं, वह सुनता रहता है। उनकी पदचापें, उनकी बातें, खिलखिलाहटें। वह अपने मन में उतारता चला जाता है।

सबसे पहले कहानी लिखते समय मैंने सोचा न था कि लोगों की मनपसंद कहानियाँ जांच में हैं कि नहीं। मेरा मन हमेशा बेचैन रहता था, यह बेचैनी जो बचपन से साथ चला आ रहा है। उसका विश्लेषण या व्याख्या करना कठिन है कि उसे शून्य कर लिया जा सके। खूनी की आग की तरह भीतर-ही-भीतर सुलगने वाली इस तीव्र बेचैनी के बीच लिखने की तैयारी करता हूँ। जीवन इस बेचैनी से गुज़र [illegible] मोड़कर आने की कथा है। कहानी रचना काल में बेचैनी उसकी चरम सीमा तक पहुँचती है। समाप्ति के क्षण में आह्लाद होता है। ऐसा लगता है कि संसार उतना बुरा है नहीं। कभी कभार कहानी लिखने के उपरांत ऐसा भी लगता है कि इसकी खुशी जरा मनाई क्यों न जाए। उस दिन शाम को हवा में उड़ती रुई की तरह इधर उधर मारा मारा फिरा जा सकता है। दोस्तों से मिलकर खूब हँसा जा सकता है, किसी दुकान की चाय पर भी बड़ी बातें की जा सकती हैं।

बचपन से ही मैं अकेला था। चार भाइयों में मैं सबसे छोटा था। पिता दूर श्रीलंका में काम कर रहे थे। माँ एक बड़े परिवार का बोझ उठाए हँसना, खुशियाँ मनाना भूल सी गई थी। जब मैं हँसने खेलनेवाले किसी परिवार में जाकर वापस आता, मन बड़ा उदास रहता। मेरे अपने घर का जीवन यातनामय था। खाली खलिहान, ऋणबद्ध पत्र, महाजन, [illegible]। मुझ जैसे सबसे छोटे लड़के से भी घर की तंगी छिपी न थी।

जीवन में कभी मैंने अपनी वर्षगाँठ नहीं मनाई थी इसलिए कि मैं कर्कटक महीने में जन्मा था। (केरल के लोगों के लिए यह महीना बड़ा मनहूस होता है इसलिए कि खाद्यान्न के मामले में केरल स्वावलंबी नहीं।

यहा की खेती-बाडी से आठ नौ महीने मुश्किल से गुजारे जा सकते हैं।) जिस उम्र मे समारोहो के प्रति आकर्पण रहता था, घर पर चावल दवा के लिए भी दुलभ हो जाता था। कटाई के महा सुदिन की प्रतीक्षा म एक एक दिन गुजारना पहाड हो जाता। एक वपगाठ की याद आज भी मेरे मन मे ताजा है जब तीन रुपये का अनाज कहीं से मगाकर भुनाया और उसका चावल कूटकर भात बनाया गया था। भात तैयार होते होते तीन बज गया था। भूख अपने आप बुझ गई थी। बडा होने पर वपगाठ चाहता तो ठाठ बाट से मनाई जा सकती थी, मगर तब तक सारी उमग ठडी पड गई थी।

उन दिनो साहित्य सजन जीवन से पलायन था। रात को धुधुआती ढिबरी के सामने बैठकर कुछ कलम घिसते समय, दिन भर पहाडियो की ढलानो पर और मैदानो पर टहलते हुए कहानिया, कविताए मन ही मन रचते समय, जीवन से दूर हटते जाने की तसल्ली होती थी। जब कालेज का छात्र था, तब भी साहित्य ऐसा रहस्य-लोक लगता था, जसे कोई माद हो, जिसमे जब चाहे जाकर छिप सकें।

कहानिया, कविताए पत्रिकाओ को भेजता, कई वापस आ जाती। जो आती नही, उन्ह सपादक ने प्रकाशनाथ रख लिया होगा, समझकर बुक स्टाल पर जाता, पत्र पत्रिकाओ के पन्ने पलटकर देखता। हफ्ते गुजर जाते मगर मेरी रचना कही भी नजर नही आती।

छुट्टी के दिनो मे मुश्किल और बढ जाती। तीन मील दूर के डाकघर मे रोज हाजिर होना पडता था। वापस आने वाली चीजें दूसरो के हाथ न लग जाए।

रोज डाकघर मे जाना, और खाली हाथ वापस आना, इससे बडी शरम लगती थी। अत मुफ्त मे सूचीपत्र भेजने वाले पुस्तक प्रकाशको को काड लिखता। शुरु शुरु में बारह बारह मील पैदल चलकर हर रविवार को पढने के लिए पुस्तकें ले आना पडता था।

कभी कुछ छप भी जाता तो पारिश्रमिक नही सबद्ध भक की प्रति नहीं, फिर भी छपे हुए अक्षरो मे अपनी रचनाए देखत समय मैं उत्तेजित

हो जाता था। घर के लोगों को मेरी रचनाओं में कोई दिलचस्पी न थी।

बी० एस सी० पास कर बेकारी ढोते हुए खाली जेब घर से निकल पड़ा था। घर के लोगों के सामने पिता ने एक दिन कहा था—यह मेरा छोटा बेटा। भक्ति, श्रद्धा का नाम नहीं, किसी भी काम का नहीं। बस एक काम इसका अब रह गया है—हर राह चलते लोग लुगाइयों के अ-सिर पर के कारनामे बखान वाला करना। बाहर के कुछ रिश्तेदार भी मौजूद थे। खाना बीच में छोड़कर उठा था। दूसरे ही दिन रंग उड़ी पटी उठाए बस स्टैंड की ओर निकल पड़ा था। वहां एक परिचित कुली से दो रुपये कर्जा लेकर अपनी यात्रा शुरू की थी।

कोई स्थायी काम नहीं। किसी 'ट्यूटोरियल कालेज' में अध्यापक बना था। तीन दिन ग्रामसेवक का काम भी संभाला था। कुछ महीनों तक सीमित ये काम करते समय भी लिखना जारी रहा। इससे कुछ समय के लिए ही सही, जीवन की कड़वाहट से निजात पाता रहा।

आज पुस्तकों से पैसे मिलते हैं। मनपसंद काम मिल गया है। मगर क्या मैं खुश हूं? नहीं। मेरे अंतरतम में हजारों कड़वाहटें हैं। संसार की कड़वाहटें और कुंठाएं मेरे मन में जमती जा रही हैं। जानता हूं, मेरे क्रोध और विरोध से कुछ होता हवाता नहीं। मेरी पीढ़ी भी यह जानती है। नासूर अल्सर से, लीवर ड्रोसिस' से कुछ लोग आत्माहुति करते हैं। जिजीविषा से अभिशापग्रस्त मैं कायर हूं, अतः आत्महत्या नहीं करता। अपनी कड़वाहटें और अल्सर लाद साहित्य के अपने छोटे संसार में मैं युग का कैदी ही जीवन जी रहा हूं।

संक्षेप में, अपने एक अंतरलोक की तामीर करना, यही कहानी लेखन से करता आ रहा हूं। छिपने, रोने, हंसने और सपने देखने के लिए इस तरह की एक छोटी दुनिया की सख्त जरूरत है। जीवन में हर खरोंच के लगने के साथ उसे झेलने की शक्ति के अभाव में ऐसी एक मांद की आवश्यकता पड़ती है, जहां आसानी से घुसा जा सके। रास्ते के किनारे या रेलवे स्टेशन पर लोग 'ऑटोग्राफ' के लिए साहित्यकार के चारों ओर भीड़भाड़ नहीं करते। साहित्यकार यह सब पसंद करता भी नहीं।

वह अपने लिए लिखता है, अपने छोटे ससार को आबाद करने के लिए, जिंदगी की दासता से मुक्त हो अपने बनाए हुए राज्य मे स्वामी बनकर रहने के लिए।

हाल ही मे कई पडितो ने आज की परिस्थिति मे साहित्यकारो का क्या कर्तव्य हो, इसपर चर्चा की थी। लेखको के समाज के प्रति दायित्व के बारे मे गहन विश्लेषण किया गया था। चार औंस चावल, नौकरशाही, लाल फीते सब वर्तमान समाज की समस्याए हैं। समाज मे जीने वाले लेखक नामक मानव के साथ इसका क्या कोई वास्ता नही ? जरूर है। भूखे बच्चो को याद कर पैसा उधार लेकर काले बाजार मे वह भी चावल की खोज मे भटकता है। वह भी सरकारी दफ्तरो के देवताओ की निंदा व यत्रणाओ का शिकार बनता है। इस सब से सजित मानसिकता, हो सकता है कि एक न एक दिन उसकी रचनाओ मे पैठ भी जाए, मगर मेरी मान्यता है कि लेखक का फर्ज है, लेखक रहना। यही समाज व राष्ट्र की उसके द्वारा की जानेवाली सबसे बडी सेवा है।

मेरा खयाल है कि लेखक को अपने प्रति की जाने वाली आलोचनाओ या विवादो का उत्तर देने मे समय जाया न करना चाहिए। यद्यपि हमारे यहा अब ऐसा करना असभव लगता है तो भी साहित्यिक सिद्धातो से सबद्ध बहस मे भाग न लेना अच्छा समझता हू। सजनशील साहित्यकार को अपने दिल मे एक आग को उजागर रखना चाहिए। बहस मुबाहसो से इस आग की गर्मी मद पड जाती है।

मैं समझता हू कि समाज से लेखक का दायित्व प्रत्यक्ष नही, परोक्ष है। कारण समाज लेखक की हस्ती को कुछ समझता ही नही। छोटी कक्षाओ मे निबध लिखते समय तकियाकलाम की तरह व्यवहृत कुछ वाक्य होते हैं जैसे कलम तलवार से ताकतवर है फ्रेंच क्राति का मानस वालटेयर और रूसो ने तैयार किया था आदि आदि ? मगर अब हमको सत्य को परखने की चेष्टा करनी चाहिए। समाज व राष्ट्र नियत्रित करने वाले शासकवर्ग और नेतागण साहित्य के छोटे लोक की सीमाओं से कितनी ही दूर खडे हैं। साहित्य उनकी अतरात्मा मे किसी तरह की हरकत पैदा नही करता। समाज के बहुत ही कम लोग इस लघु ससार

की हलचल की ओर ध्यान देते हैं।

चीन ने भारत पर आक्रमण किया था। उसका भारत के नागरिक की हैसियत स मैं विरोधी हू। मगर उसके बारे मे किसी वीर जवान को नायक मानकर मैं उपन्यास नही लिख सकता क्योकि मेरे लिए वह 'मेटि-रियल' नही बना। जिसने मुझे आघात पहुचाया हो, उसीको मैं कथावस्तु बना पाता हू। भारत चीन, भारत पाकिस्तान युद्ध, पचवर्षीय योजनाए, अणु बम कुछ भी मेरे कहानीकार मन म कोई आलोडन पैदा नही कर सका था।

मानव मन की कई तहो मे पैदा होनेवाली हरकतो से लेखक निर्माण काय शुरू करता है। यह मानना भूल होगी कि कहानियो के मनोविश्लेणात्मक होने के साथ कहानीकार का समाज बोध नष्ट हो गया। वैयक्तिक अनुभूतियो को वह कहानी का मसाला बनाता ह मगर इन व्यक्तियो का अस्तित्व समाज मे है। समाज भले ही साहित्यकार स अपक्षा न रखे, जब व्यक्ति का आधार समाज है उसक उससे बचन का प्रश्न ही नही उठता।

मुझे बडा स देह है कि इस आशा से आज कोई लिखता भी हो कि साहित्य से समाज व राष्ट्र को सही रास्ते से चलाया जा सकता है। मगर कभी कभी अपने और अपन पडोसी के और सभवत समाज क भी अनुभूत सत्यो को वह अभिव्यक्त करता है। अनुभूतिया जो जीवन स उसके अतर-तम मे घुस आई थी, उसकी अभिव्यक्ति का यह परिणाम निकलता है कि जीवन क कई मोडो पर उसके पाठक जब विविधताओ और विरोधा से पूण अनुभूतियो का सामना करते है तो उसे ज्ञात होता है कि यह दुख सिफ अपना नही, यह हर्वानियत मात्र मेरे प्रति नही है। वह इसकी सहायता करता है कि जीवन की सचाई को उसके विविध रगो और विद्रूतिया के साथ अपनाए और स्नह या घणा के बावजूद इसम समझौता करे। वह जान जाता है कि व्यक्तियो की अनुभूतिया आधुनिक युग का तोहफा नही है जान कब से शुरू हुए जीवन प्रवाह का एक बिंदु मात्र है।

अतिम विश्लेषण पर ऐसा लगता है कि मेरी कहानिया की प्रतिक्रिया कुछ भी हो अपनी मानसिक स्वच्छदता के लिए आदशपरक अस्तित्व के लिए मैं लिखता हू। अपने युग के मानव को, जिनके साथ मैं आप सभी

परिचित हैं, अधिकाधिक जानना भी मेरी इच्छा है। इस भीड़ असहाय, उस मानव से, जो यह जानने के बावजूद कि अपने पैरों तले वह जो पिस रहा है वह एक मूल्य है जिसकी आराधना दूसरों के साथ वह भी खुद करता है—आगे बढ़ने के लिए उसे बार-बार कुचलना जाता है। हंसते वक्त वह रोता है रोते वक्त अंदर ही अंदर हंसता है। उसके कई मुखौटे होते हैं। उसके अंदर के बंद कमरों में घुमते समय कभी वह चीज दिखाई देती है जो पहले नमूदार न हुई थी। उसके जीवन का सार सनातन करने के क्षणों में यह अनुभव होता है कि 'मैं भी जी रहा हूं।' हर कोई चाहता है कि ऐसा अनुभव प्रदान करने वाले क्षण वह भी भोगा करे, मरुभूमि के बीच नखलिस्तान की तरह। अपने ढंग से यह नखलिस्तान राजमिस्त्री से लेकर गुमाश्ता उद्योगपति सबने देखा होगा।

गुंटर ग्रास के उपन्यास के नायक के जिसका शारीरिक विकास छुटपन में ही रुक गया था गले में एक टीन का बाजा है। परेशानी या उल्हास के वक्त वह उसे बजाता है। जीवन जब मुरझा जाता है, क्षुब्ध मन की प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति के लिए हममें से हरएक एक टीन का बाजा खोजा करता है।

कहानीकार उसे अपने अध्ययनकक्ष में पाता है।

अनुवाद रवि वर्मा

कृष्णप्रसाद मिश्र

बरामद मे चटाई बिछाए सोत-सोत ऊपर ताकने से नारियल के लम्बे पेड बाल बिखरे पागलो की तरह दिखत हैं, जिनके पत्तो के रह रहकर हवा म थिरकन के बावजूद हवा बरामदे तक नही आ रही थी । पैर की ओर पुआल की बनी लुआठी से सुलगता धुआ आगन और घर के चारो ओर फलकर मच्छरो को भगा रहा था। शाम के मच्छरो की गुनगुनाहट और सुनाई नही दे रही थी। बरामदे पर मैं दादी के साथ सोया था। वह सो गई थी। घर के अदर दादा सोए थे। धीरे धीरे चारो ओर सन्नाटा सा छाने लगा था।

सुबह उठने पर आगन मे अनको के पेशाब करने के निशान और बरामदे मे लुआठी की आकृति म जमी राख दिखाई पडती है। रोज आकर काम करने वाली नाईन सत्यवादी की मा के बुहारने की आवाज से मेरी नीद टूटती। नारियल के पेड पर स उतरकर मेरे पास भूत आ जाएगा, इसी डर से मैं कभी कभी अन्दर जाकर सो जाता क्योकि मुझे दादी से अधिक दादा पर भरोसा था। एक बार सो जाय तो लाख पुकारने पर भी दादी उठेगी नही, पर दादा एक ही पुकार मे जाग उठते थे। मेरे जागने के पहले ही दादी उठकर चली गई होती। पर तब भी दादा घर के अदर सोए होते। मुह मे से पीक बह आया होता। छाती पर से पिछले दिन का लगाया चदन मिटा नही होता। मैं कूदकर बरामदे में खडा हो जाता और नारियल के पेडो की ओर ताकता। पिछली रात मैंने उनपर भूत, प्रेत, डायनो को देखा था। पर दिन के उजाले मे हरे-हरे नारियलो के गुच्छे देखता। सिर्फ डाभ ही नहीं, नारियल, खोपरा और नारियल के फूल भी देखूगा। उडीसा के ब्राह्मण शासनो (ब्राह्मण गाव) म आगे पीछे नारियल के पेड दिखाई पडते है। दूर से नारियल के पेडो की कतार देख ब्राह्मण 'शासन' होने का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है उसके बाद

मैं भ्राश्वस्त होकर अपने निश्चय में सगूंगा।

उड़ीसा में पुरी जिले के नरहरिपुर ग्राम में श्रर्पित मिश्र का घर और बगीचे के बारे में यहाँ पहले बता रहा हूँ। वे मेरे पिता के पिता, मेरे दादा थे। मेरे होश संभालने तब वे वृद्ध हो चले थे। मेरे देखते समय में सबकी आँखों से वो हट ही जाने तब उनका वही एक मात्र नाक-नक्श था बड़ी-सी नाक, छोटी आँखें, पोपला मुँह, मझले कद का गोरा शरीर, चौड़ा ललाट मुंडित मस्तक के पीछे लटकती चोटी। नाक में सम्मान भान आँखों में बुद्धि, ललाट पर अनगिनत अनुभूतियाँ और पोपले मुँह में न खत्म होने वाली कहानियों का खजाना थे। अगूठा और मामले हथेली पर पान मसलकर खाते थे और मेरे लिए कहानियाँ भरते थे। मैंने जब इच्छा की है, उन्होंने कहानी सुनाई है। कभी भी वे कहानी कहने से थक गए, थक गए या हार गए हों, यह मैंने नहीं देखा। पोते के हिसाब से मैं उन्हें अपने अनजाने में क्या संतोष दे रहा था, मुझे नहीं मालूम। चाहे कैसी भी सुविधा असुविधा हो, मेरे चाहने मात्र से ही उन्होंने कहानी सुनाई है।

उनकी कहानियों के कारण मेरे लिए नारियल के पेड़ पर भूत प्रेत थे, जमीन के उस और सालरी पर्वत पर कई साधु संत थे और बड़े पोखर में कितनी ही राजकुमारियाँ के संगमरमरी महल थे।

एक रोज़ पाठशाला से लौटते समय मैंने दादाजी से प्रश्न किया था—दादाजी, नारियल के अन्दर पानी कैसे पहुँचता है? उन्होंने जवाब में क्या कहा था याद नहीं है पर मुझे संतोष नहीं मिला था इतना जरूर याद है। मुझे लगा वे ठग रहे हैं नाराज़ होकर मैं सड़क की एक और हो लिया, उनकी उंगली की पकड़ छोड़कर। पर ऐसी घटना कभी कभार ही घटती। जब तक मैं गाँव में था मैंने उनकी उंगली कभी भी नहीं छोड़ी। उनकी कहानी उनकी सान्निध्यता से मुझे हमेशा आनंद मिला है। वे कहानी सुनाएंगे, मैं सुनूँगा। वे मुझे लाड प्यार करेंगे मैं उसे ग्रहण करूँगा यही चिरंतन सी रीति थी मेरे लिए। अब कभी कभार सोचता हूँ—हर रोज़ भाव महिमा, लय अटूट रखते हुए उन्होंने मुझे जो कहानियाँ सुनाई थीं उसीके प्रभाव से तो मैं कथाकार नहीं बन गया? पर मैं उन जैसा

कल्पित नहीं बन सका, समय के अभाव के कारण, कई उलझनों में फँस-कर 'कहानी नहीं है' कहकर मैंने लोगों को लौटाया है, पर दादाजी ने कभी भी 'कहानी नहीं है' कहकर मुझे लौटाया नहीं।

नरहरिपुर शासन में तीन ब्राह्मण परिवार थे और बाकी सब किसान। एक घर था नाई का, जिस घर से सत्यवादी की मां आकर हमारे यहां काम काज करती थी। गांव भर की आसपास की जमीन को पुरखों पहले पुरी के गजपति दिव्यसिंह देव ने मेरे दादा से दीक्षा ग्रहण करके दान किया था। पर दादा के जमाने में वह सारी जमीन हमारी नहीं रह गई थी। कपूर उड़ गया था। मेरे दादा के मामा भी एक प्रसिद्ध तांत्रिक थे। कई बार दादाजी से अपने वंश की तंत्रसिद्धि और भक्ति की कथाएं मैंने सुनी हैं। तांत्रिक के रूप में जयपुर में उनके मामा की प्रसिद्धि थी, एक दम दुर्दांत भूत या ब्रह्मराक्षस को किस तरह वे अनायास वश में कर लेते थे, उनकी छाती तक लम्बी सफेद दाढ़ी सिंदूर का टीका, दादाजी की कथन शैली के कारण मेरे लिए अब भी आकर्षणीय बनी हुई हैं। मेरे होश सभा-लने तक हमारे परिवार में तंत्राभ्यास नहीं रह गया था सिर्फ भक्ति ही रह गई थी। पहले हर रोज दादाजी तंत्रपीठ बाणपुर की भगवती के दर्शनार्थ जाते थे, वह भी बंद हो चुका था। घर पर दुर्गा माता की मूर्ति अब और नहीं थी। वे सिर्फ अनंतस्वामी के दर्शन करने जाते थे। विष्णुमूर्ति, अनंत-स्वामी, हमारे मुहल्ले से तीन मुहल्ले छोड़ के वैष्णव मठ में अधिष्ठित थे। तब तक दादाजी को कोई संतान नहीं थी। उनका बाल विवाह हुआ था। जितनी संतान होती, सब शीघ्र मर जाती। दादाजी ने उसी दुःख से हो या धान के व्यापार में जहाज डूब जाने के कारण, अफीम का आसरा लिया। उस समय उड़ीसा में सामंत चंद्रशेखर प्रसिद्ध ज्योतिर्विद पंडित थे। गणित और फलित दोनों में उनका सुनाम था। पुत्रप्राप्ति होगी या नहीं, उन्हें पूछने के लिए वे खंडपाड़ा गए। उनकी जन्मपत्री देखकर उन्होंने बताया, एक लग्न के पंचम में पुत्रकारक वृहस्पति ने रहकर पुत्र भाव को नष्ट कर दिया है इसलिए पुत्र प्राप्ति नहीं होगी। पर नारायण प्रसन्न हों तो क्या असंभव हो सकता है? इसलिए उन्होंने नारायण को प्रसन्न करने के लिए अष्टाक्षरी मंत्र

पाया था। मैंने सूर्य भगवान और देवी की पूजा कर संतान पाई है। वैशाख कृष्ण पक्ष की एकादशी थी, जिस दिन तू जन्मा। ब्रह्मपुर के विख्यात ठाकुरानी (देवी) मेले के अवसर पर देवियां हमारे घर पधारी थीं और जब भोग लगाया जा रहा था, तब मुझे प्रसव पीड़ा हुई। शंख, घंटा, तुरही, हुलहुली के बीच तू भूमिष्ट। तेरे दादाजी दादी, पिताजी सब मुझे बांझ कहकर कोसते थे। कहा करते कि मैं मां बनूंगी ही नहीं, यहां तक कि तेरे पिताजी की दूसरी शादी की बात भी तय हो चुकी थी। इसी बीच बरामदे पर मैंने रात बिताई है। किवाड़ बंद कर तेरे पिताजी अंदर सो जाएंगे और सुबह उठकर बटक। कभी-कभी तो आधी रात को मन करता सालरी पहाड़ की ओर चली जाऊं। तू मेरी आंखों का तारा है मेरी गोद भरकर तूने मुझे बांझ कहलाने से बचाया है। मैंने तुझे सूर्यदेव की पूजा कर पाया है। तू बड़ा आदमी बनना।

मां की बातें अच्छी लगती थीं, गर्मियों के दिनों में वह चंदन-सी शीतलता देती और सर्दियों में आग की तरह गर्मी। मां की तरफदारी कर मैं पिताजी दादाजी और दादी पर बिगड़ता था। पर वे मुझे इतना प्यार करते थे कि उनपर बिगड़ने के बाद मुझे और क्या करना चाहिए, सोच नहीं पाता था। अतः मां के पास से उठ जाने के बाद सब कुछ भुला देता था। नींद लगने पर अपने आप दादा और दादी के पास चला आता था।

मैं गांव के आसपास के इलाकों में काफी घूमा करता। सुबह खुद भात खाकर, गाय और गोपाल बालकों के साथ सालिया नदी के पास बाहर झाड़ियों तक चला जाता भैंसों की चौड़ी पीठ पर बैठ या लेटकर पहाड़ की ओर जहां ऋषि मुनि होने की बात लोग बताया करते हैं एक-टक देखता रहता। कहते हैं सालेरी पहाड़ की चोटी पर से श्रीमंदिर (पुरी का जगन्नाथ मंदिर) दिखता है, पतितपावन पताका दिखाई देती है। कहते हैं सालेरी वनौषधियों से भरपूर है। एक बार एक लकड़हारे ने लकड़ी काटते समय कुल्हाड़े से पैर काट लिया। पीड़ा से कराहते हुए रेंगता रेंगता उतरा। उतरते समय उसके आगे जो भी पत्ता पड़ता, उसे तोड़ या उठा लेता और घाव पर मल देता। नीचे उतरकर वह दंग रह

गया। सिर्फ खून बहना ही बंद नहीं हो गया, उसका अधकटा पैर भी जुड़ गया था और कटने का निशान तक गायब था। सालेरी को मैं रामायण में वर्णित गंधमादन सोचता था और उसे पेड़ के नीचे से या भैंस की पीठ से देखता था। मन ही मन संकल्प करता कि एक दिन उसपर जरूर चढ़ूंगा। स्कूल जाकर पहाड़ा याद करने के बजाय वहां से सालेरी की ओर देखने में मुझे ज्यादा खुशी मिलती थी। सूर्यदेव और देवी के प्रसाद से जन्मनेवाले व्यक्ति के लिए इससे अच्छा क्या नाम हो सकता है, यह मेरी कल्पना से परे था।

स्कूल न जाकर भैंस की पीठ पर उस तरह घूमते समय बहुधा लकड़ी लाने जंगल जाती वाली लड़कियां दिख जातीं। आपस में बातें करती हुई हंसती हुई। पहाड़ की ओर उनका चलना और शाम को सिर पर लकड़ी का बोझ लादे लौटना, मुझे आरण्यक गीत के ताल-लय सा लगता था। पर मैं उन्हें समझ नहीं पाता था। वे युवतियां मुझे कई जगहों पर दिखने लगीं। बड़े तालाब के घाट पर, मुहल्ले की सड़क पर, खेत में, अमराई में जो आंखें सालिया नदी की क्षिप्रता, सालेरी की उच्चता, बांस के जंगल की गहराई, आकाश की व्याप्ति को निहारती थीं, वे प्रकृति के इन गुणों को, गांव की इन लड़कियों में देखने लगीं। मेरे मन को जानकर साथी लड़के भी उन्हें दूर से दिखाकर उनका परिचय देते हुए उनका झूठा-सच्चा इतिहास बताने लगे। मेरे एक और साथी ने मुझे और आगे बढ़ाने की कोशिश में मुझे याद दिलाया कि मेरा नाम 'कृष्ण' है। उस समय शायद मेरे नाम 'कृष्ण' के साथ प्रसाद नहीं जुड़ा था। भारत में अत्यंत अर्थद्योतक इस नाम को सार्थक बनाने के लिए मैं दोपहर में छिपकर दूध पीने लगा, मक्खन चुराकर खाने लगा और एक दिन सात बेदी तालाब में सूर्य के घोड़ों के पानी पीते समय औरतों के घाट के पास के पेड़ पर जा बैठा। इन सब कार्यों में मेरी तीव्रता और बढ़ गई जब मुझे मां की आलमारी में पुराण, उपन्यास, कहानी की किताबों के नीचे से अचानक 'काम विज्ञान' और 'विवाह विज्ञान' नाम की दो किताबें मिलीं।

मां दहेज के रूप में, वैसे देखा जाय, तो कुछ भी नहीं लाई थी। विवाह के तुरंत बाद पिताजी स्टूडेंट्स स्टोर की कटक शाखा की व्यवस्था करने

चले गए। मा स्टूडेंटस स्टोर के भागीदार तथा मैनेजर रामोदर रथ की बडी लडकी की हैसियत स गाडी भर पुस्तकें लाई थी। वे सारी पुस्तकें उनकी भ्रालमारी म बद थी। वहान मे रहत समय के लम्बे दिना का मैंन उन भ्रालमारियो के सहार बिताया था। वण शिक्षा भ्रौर शब्दज्ञान पा लेने के बाद मैंन भ्रठारह पुराणो को पढ डाला। युद्ध भ्रथवा भ्रपहरण का प्रसग भ्राता तो बड़ा चाव स पढता था भ्रौर दाशनिक या नीतिशिक्षा वाले प्रसगा क पन्ने एसे ही उलट देता। नख सा वणन तो कभी भ्रच्छा नही लगता था। पुराण पढन म मैं इतना तल्लीन हो जाता था कि खेल कूद, साथी सगी भ्रादि की बातें सब भूल जाता था। पुराणा को पढकर एक बार मेरे मन मे एक सवाल उठा—शिव, दुर्गा, विष्णु भ्रादि म बडे कौन है? इस शका के निराकरण के लिए सोचा, एक दिन सालेरा पर जाकर विष्णु की भ्राराधना करूगा। इसी बीच इन पुराणो क बीच म उन किताबा का भ्राविष्कार किया, जिन्हें पढने की लडकियो को मनाही थी जैसे दादाजी द्वारा कही गई कहानियो के राजकुमार को सब कमरो की कजी दकर किसी एक खास कमरे के भ्रदर घुसने से मना कर दिया जाता है। उन किताबो के चित्र देखते ही मैं जान गया कि घर के भ्रदर भ्रकेले म ही घुमना चाहिए सबके रहते नही। भ्रौर मैंने वैसा ही किया भी। घर के इधर-उधर सुनसान कोनों मे चला जाता जब सब लोग सो जाते, भ्रौर इस तरह उन्ह भ्राद्योपात पढ गया, भ्रौर उसीके बाद मुझम उदासीनता दिखाई देने लगी, जिसके कारण साथी लडको से बातें सुनना अधिक भ्रच्छा लगने लगा सिर पर लकडी के भार लाद भ्राती उन लडकियो को देखने की भ्रधिक इच्छा हुई। धीरे धीरे पाठशाला मे भ्रनुपस्थिति होने लगी, शरीर भ्रौर मन मे एक भ्रदभुत ज्वाला भटकन लगी थी।

मैं दिन-दोपहर की धूप मे इधर उधर भ्रमराई सालेरी के भ्रासपास की जगहो मे भ्रासपास के गावो म भटकने लगा। भ्रौर भ्राश्चय की बात यह है कि जब से मैंने इस तरह का भटकना शुरू किया, तब से वे लडकिया जिन्हें मैं देखा करता था मानो किसी जादुई छडी के घुमाने की तरह

गायब हो गई। 'सामान्त' के नातों की बातों में गाव की बूढ़ियां ने पता नहीं क्या देखा और पता नहीं कैसी-कैसी अफवाहें फलाईं कि वे सारी निर्जन जगह नारीशून्य हो गई। धूप में भटक भटककर निराश हो रोज घर लौट आने के कुछ दिन बाद मैं भयावन सपने तक देखने लगा— असरूप विषधर सांप, भूत प्रेत, देवी देवता। मैं कई बार शून्य में उड़ने के सपने भी देखता। पैदल चलते चलते इच्छा होती उड़ जाऊं और मैं उड़ने लग जाता मैं हाथ हिला हिलाकर उड़ रहा हूं और नीचे जंगल, जमीन, पहाड़ सब कुछ रह गया है मुझमें पता नहीं क्या देखकर एक दिन दादाजी ने एक ऐसी सुंदर स्त्री की कहानी कही जिसे लगातार आठ-दस दिन तक सपने में कोई देखे तो अपने आप कमजोर होकर मर जाएगा। इससे मेरा भय और अधिक हो गया।

इसी तरह की अशांति के चलते मैं नाटक और कविताएं लिखने लगा। एक हस्तलिखित पत्रिका भी निकाली। मेरी कविताओं को गांव के एक बुजुर्ग कवि संशोधित कर देते थे। अपने लिखित नाटकों को गांव के लड़कों को बुलाकर मैं घर पर मंचस्थ करता था। घर से मां की साड़ियां ले आना, लालटेन के उजाले में वे नाटक खेले जाते। फिर धीरे धीरे उन्हें देखने वालों की संख्या बढ़ने लगी। उन्हीं दर्शकों में एक दिन उन्हीं लड़कियों में से दो-तीन को देख मैं खुश हो गया जिन्हें इससे पहले हर जगह ढूंढा करता था, हार गया था खोज कर।

पर इसके बाद मैं और अधिक दिन गांव में न रह सका। मेरा आचरण, मेरा घूमना फिरना, पढ़ाई में ढिलाई मेरे शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों को हमारी पाठशाला के अनुभवी प्रधानाध्यापक ने पता नहीं कैसे भांपा और पिताजी को पत्र दिया था। पता नहीं उस पत्र में क्या लिखा था उन्होंने। पर एक दिन वालुगांव स्टेशन से पठान गाड़ीवान ने गाड़ी लाकर घर के सामने खड़ी की और उसपर से पिताजी उतरे।

नाटक बन्द हो गए। पत्रिका बंद हो गई। अमराई में इधर उधर भटकना बंद हो गया। मां से लक्ष्मी जणाण सुनना बंद। दादाजी की छाती से चंदन की महक और दादी की हलदी लगी देह की सुगंध को उनके पास सोकर सूंघने का मौका फिर कभी नहीं मिला। गाड़ी से उतरकर

पिताजी ने मुझे कटक साथ ले जाने का प्रस्ताव रखा। मैं कटक घूमने जा रहा हूं यह सोचकर खुशी से फूला न समाया। गांव में रहते हुए भी मैं कल्पना में कटक कई बार हो आया था, इसलिए जब कटक चलने की संभावनाएं सच होने को आईं, मैं खुश हो रहा था। यद्यपि दादाजी, दादीजी और मां को सही बात का पता था, उनके चेहरे पर खुशी के बदले मायूसी थी पर मैं तो सोच रहा था कि कटक गांव की तरह घूहर का जंगल नहीं होगा। वहां केवड़े केतकी की झाड़ नहीं होगी। लालटेन और दीया अंधेरे को अधिक गहरा नहीं करेंगे। मच्छरों को खदेड़ने के लिए सुखाठी का धुआं नहीं होगा और न उस धुएं का अत्याचार सहन करना होगा। इन सबको लेकर मेरे मन में कोई संदेह न था। चूंकि कटक मेरे लिए एक नया शहर था अतः मैं कुछ अधिक उतावला हो रहा था। मां, दादाजी और दादी मां के चेहरे मानो मुझे सतर्क करा रहे थे, पता नहीं किसलिए। मैं उम्र में छोटा था, फिर भी मन ही मन मैंने तय कर लिया था कि रोऊंगा नहीं और उसी संकल्प को लेकर मैं गाड़ी पर चढ़ा था।

धीरे धीरे नरहरिपुर शासन बड़ा तालाब, बड़ पाटणा, माध्यमिक स्कूल, बाणपुर सब पीछे छूटने गए और हम आकर बालुगांव में उतरे। मछ गाड़ी में चढ़े। उसी ट्रेन से चिलिका झील की मछलियां कलकत्ता भेजी जाती हैं। बरामदे पर खड़ी दादी मां, सड़क पर खड़े दादाजी और मेरे सारे यार-दोस्तों की यादें मुझे सताती रही थीं। पता नहीं मां उस समय कहां थी, शायद मेरे लिए सूर्य भगवान के आगे सिर झुकाए प्रार्थना कर रही होगी। गाड़ी में बैठकर खिड़की से मैंने बाहर देखा। बालुगांव धीरे धीरे पीछे छूटता जा रहा था और उसीके साथ साथ मेरा हृदय दुःख से भरता जा रहा था। पर न रोने के संकल्प ने मुझे संयत कर रखा था। अंत में देखा रेल एक पटरी पर से किस तरह दूसरी पटरी पर चली जाती है और फिसलती नहीं। मैंने पिताजी से कारण पूछा। पिताजी मुझे वही बात समझाने लगे। गाड़ी का डब्बा लोगों से खचाखच भरा था। बीड़ी और सिगरेट के धुएं में आंखें जल रही थीं। डब्बे में उजाला नहीं था और उसपर मछली की बू से नाक फटी जा रही थी। मैं पिताजी का उत्तर सुनते-सुनते फफककर रो पड़ा। पास बैठे

यात्री जो कुछ क्षण पहले मेरे सवाल से मुझे बुद्धिमान समझ रहे थे, मुझे रोते देख पिताजी से कई बातें पूछने लगे। गाव की सडक पर बहुत पहले जो होना चाहिए था, वही अब यहा हो रहा है, शायद ऐसा ही कुछ बताया था पिताजी ने।

कटक में बालू बाजार चौराहे पर एक दुमंजिले मकान की ऊपरी मंजिल की एक कोठरी मे रहने की व्यवस्था थी और नीचे स्टूडेंटस स्टोर (प्रकाशन संस्थान) की दुकान थी। एक शाखा ब्रह्मपुर मे भी थी, नानाजी की देखरेख मे। बालू बाजार मे सिर्फ विक्रय केन्द्र था। जिधर देखता, किताबें ही किताबें भरी थी। इतनी सारी किताबें एक साथ देखकर खुशी से पागल-सा हो गया। जिस दिन पहुचा, उसी दिन सोचने लगा कि कब रात कटे, दिन हो और मैं पढना शुरू करू और उसीसे रात भर नींद नही आई। भोर से ही मारवाडी महिलाओ के चप्पल घसीटते हुए चलने की आवाज, उनकी भाषा मे गीत गाते चलना, चौराहे पर खडे होकर बातचीत का शोर तथा पास की मसजिद से तुरही की आवाज और अजान की पुकार, रास्ते पर कबूतर और कौवा के दाने चुगते झुंड और रास्ते के दूसरी ओर हलवाई की दुकान में बर्तन मांजने की आवाज—इन सबने मिलकर कटक मे उस पहली सुबह को भोर से ही सुंदर बनाया और छत पर जाकर सूर्य पर फेंके अनगिनत अक्षतो की भांति उड रहे कबूतरो को देखकर कटक के लिए प्यार हो आया था।

अब की बार पुराण नही—मैंने कहानी, उपन्यास और कविताएं पढना शुरू किया। प्यारे मोहन अकादमी की पाचवीं कक्षा मे मुझे दाखिल किया गया था। यहा प्रधान शिक्षक ने मेरे चेहरे की ओर ताकते ही मा द्वारा कही मेरे भविष्य की गणना दुहराई थी। उस समय सिर्फ मैं ही नही, पिताजी भी थे। 'इस बच्चे के चेहरे से ही पता चलता है कि यह आगे चलकर बहुत बड़ा आदमी बनेगा' पर मैं उस समय किसीसे निंदा-प्रशंसा ग्रहण करने के मूड मे न था स्टूडेंट्स स्टोर मे रखी असंख्य किताबें पुकार रही थी। स्कूल की पढाई से बहुत खुश न था मैं। स्कूल मे मुझे जेल जैसा लगता था। घर लौटने पर ही पढाई शुरू होती। रात को बल्ब के उजाले मे पढना और सुबह किसीके उठने के पहले छत पर जाकर

पढ़न बैठ जाता। अत में ऐसा हुआ कि मैंने दुकान की करीब सारी की सारी किताबें पढ डाली, उस समय मुझ 'किताब पगला' के रूप में बालू बाजार के दूसरे दुकानदार भी जान गए थे। मैं उनकी दुकानों से किताबें ले आता। व मरे लिए सारी सुविधाएं जुटाते। कभी कभी मुझे आराम मिले इसलिए चटाइ और तकिए तक की व्यवस्था की। किताबों के अक्षरों के बीच गाव की सारी स्मतियां खो गईं। मुझे नये नये साथी आ मिलने लगे। स्कूल के सहपाठी अथवा दोस्त नहीं—उड़ीसा के सब साहित्यकार अपने साहित्य के जरिये धीरे धीरे दोस्त बनने लगे। उस समय स्टूडेंट्स स्टोर में उड़ीसा के लब्धप्रतिष्ठ लेखकों का नियमित आना जाना था। श्री कालिन्दी चरण पाणिग्राही, श्री मायाधर मानसिंह, श्री गोदावरीश मिश्र, श्री राधामोहन गड़नायक आदि उस समय के प्रख्यात कवि लेखक उपन्यासकार आते उनके पास बैठकर बातें करने की उत्कंठा होती। वे मुझे अति परिचित दोस्त स लगते। पर बच्चा समझकर पिताजी मुझ ऊपर भेज दत और वे खुद उनके साथ बातों में मशगूल हो जात, चाय नाश्ता, पान सिगरट के दौर चलते रहत। मैं मन मसोसे ऊपर चला जाता और अपनी किताबों की दुनिया में सब कुछ भुला देन की कोशिश करता। नहीं तो कभी कभी गाव की भूली भटकी यादों की स्मृति के झरोखे स झांकता और उनका सोंधी सोंधी महक में खो जाता। कई बार मुझ विस्मय सा लगता कि ये मुझे अपना साथी क्यों नहीं बना रह हैं। मेरी प्रतिभा को य लिखन-पढ़ने वाले लोग और मेरे पिताजी तब भी क्यों नहीं देख रह है ? मैं उन लोगों के साथ साथ पिताजी पर भी नाराज हो जाता—मन ही मन उनकी इस तरह की लापरवाही के कारण।

इसी बीच उड़ीसा की एक विशिष्ट साहित्यिक सस्था 'कलिंग भारती' के संपर्क म आया। 'कलिंग भारती' और उत्कल छात्र साहित्य समाज के सभापति श्री विच्छन्द चरण पट्टनायक उड़ीसा के प्राचीन काव्य के विद्वान ही नहीं थे, वरन इस मत के दृढ़ समर्थक भी थे कि उस काव्य-परंपरा का अब भी अनुसरण होना चाहिए। उनकी असाधारण प्रतिभा स आकर्षित होकर विद्यार्थी उत्कल छात्र समाज के सदस्य बन जाते। उड़िया के आधुनिक साहित्य की कठोर आलोचना करना, प्राचीन

पारपरिक रीति से काव्य कविताए लिखना, उपेन्द्र भज को कवि-सम्राट घोषित करना, उस सस्था का प्रमुख काय था। सभाओ मे नई पीढी के कवियो को न्यूनतम दर्शाना भी इस समाज की काय सूची के अतगत था। इसी समाज के मत्री एक दिन स्थानीय कॉलेजियट स्कूल मे उडिया साहित्य के सम्बन्ध मे भाषण देने आए। उस समय मैं पी० एम० एकेडेमी छोड कॉलेजियट स्कूल की आठवी कक्षा मे पढ रहा था। अच्छे भाषण देने वालो के प्रति मुझमे शुरू से ही दुबलता रही है। उनके वक्तृतो की शैली और उग्र उडिया जातीयता न मुझे आकृष्ट किया और मैं भी समाज का सदस्य हो गया था।

मैंन उन दिनो विच्छन्द बाबू की प्रेरणा से छद और रागो के आधार पर कुछेक कविताए लिखी भी, यहा तक कि प्राचीन ढग से कविताए लिखन के लिए एक सुदर काव्य-नायिका की आवश्यकता पर भी विचार करन लगा। स्कूल मे वैसी कोई साथ पढने वाली नही थी। हाई स्कूल म हाफ पट' पहनन वाले आठवी कक्षा के एक छात्र के लिए प्रेमिका मिलना भी कठिन था। स्कूल जाते समय एक सम्माननीय बगाली भद्र व्यक्ति की बेटी को नत्याभ्यास करते देख उसमे अपनी काव्य-नायिका के सारे लक्षण दख उसीको नायिका मानकर भज का अनुकरण करते हुए कविताओ मे कापी पर कापी भरने लगा। मेरी कविताओ के अलावा मेरी भाषण कला और उग्र मनोभाव को विच्छन्द बाबू से सराहना मिलती थी। सभाओ मे किसीकी आलोचना की आवश्यकता का अनुभव करते ही वे मुझे प्रस्तुत करा लेते। मेरे उन कार्यों के बारे मे पिताजी को पता था। फिर भी, उनसे मुझे पूण स्वाधीनता मिली थी। स्टूडेंटस स्टोस उन दिनो आधुनिक उडिया साहित्य का प्रधान पृष्ठपोषक था। विच्छन्द बाबू और उनका समाज आधुनिक साहित्य का विरोध करते थे। मैं विच्छन्द बाबू के गुट का सदस्य बन गया था।

पर एक दिन मैंन सीमा लाघी। श्रीरामचद्र भवन (उत्कल साहित्य समाज का सभाकक्ष) म प्रख्यात कवि राधानाथ राय के सुपुत्र निबधकार शशिभूषण की षष्ठी पूर्ति मनाई जा रही थी। सभा मे शशिभूषण को

प्रशंसा के पुल बांधे गए। हमारे गांव बाणपुर के नेता पुण्यात्मा गोपबंधु के शिष्य विख्यात आधुनिक कवि पंडित गोदावरीश मिश्र ने अपने भाषण में शशिभूषण की प्रशंसा की। उन्होंने उन्हें सूर्य बतलाया और सुझाव दिया कि उनके जीवन व साथ-साथ उनकी साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन करने की आवश्यकता है। और इस संदर्भ में बहुत कुछ कहा। वे जब भाषण दे रहे थे, तब विच्छंद बाबू उनकी बातों का खंडन करने को मुझे प्रोत्साहित करते रहे। पंडितजी के बाद मैं मंच पर आया। शशिभूषण 'सूर्य' नहीं हैं, वे 'आलोक' हैं इसलिए उनके लिए शाम ही नहीं है रात होने पर व चंद्रमा और तारों के जरिये संसार को आलोकित करेंगे, पंडित गोदावरीश उन्हें सूर्य मान न मालूम किस तरह उलझन में आ फंसे हैं आदि आदि कहा। जब सभास्थल तालियों से गूंज रहा था, तब ही पंडित गोदावरीश सभास्थल छोड़कर चले गए। हम विजयी हुए, कहकर विच्छंद बाबू ने सभा के पश्चात मेरी पीठ थपथपाई। खुश होकर जब मैं घर लौटा, पिताजी ने मुझे पास बुलाया। यह अस्वाभाविक था। मैं शंकित मन दुकान के अंदर गया। पिताजी की मेज पर प्रूफ की कई फाइलें थीं, कई छपी हुई पुस्तकें थीं दो-तीन कलम पेंसिलें और दो-तीन पेपरवेट टेबल पर करीने से सजे रखे थे। दीवार से सटकर किताबों की रेकें लगी थीं जिनमें किताबों के बंडल ठुंसे पड़े थे। दुकान का बाहरी दरवाजा बंद था। रविवार होने के कारण और कोई कर्मचारी वहां न था। सिर्फ वे टेबललैम्प के उजाले में बैठे थे।

—किधर गया था? जाते ही अपनी सहज मुद्रा से तनिक गंभीर होकर पूछा। गोदावरीश बाबू की आलोचना वाले प्रसंग को छोड़कर अन्य सारी बातें कह डालीं। बाद में मैंने कहा गोदावरीश बाबू के बारे में जो कहा था वह सब पिताजी ने जोड़ दिया। पिताजी गोदावरीश बाबू का आदर करते थे—मैं अच्छी तरह इस तथ्य से परिचित था। पिताजी ने उसी मुद्रा में तनिक रुककर पूछा—भविष्य में तू क्या बनना चाहता है? उसीके अनुसार अब से तेरे कार्यक्रम को निश्चित करने की जरूरत है। एक बड़ा लेखक बनकर नई-नई बातें सरजने की इच्छा है तुममें या वक्ता बनकर गैर जिम्मेदार बात उछालकर वाहवाही लूटने की इच्छा है, जैसा

कि तूने आज पंडितजी के बारे में किया है ? वे और भी कई बातें कह गए। उन बातों में साधना, तपस्या करने की चुनौती थी। उनमें 'छात्र साहित्य समाज' के साथ मेरे सम्बन्धों पर पुनर्विचार का अनुरोध था, लेखक बनने वाली बात पर गंभीरता से सोचने का संकेत था। मैं चुपचाप उठकर ऊपर चला आया। पिताजी की गालियों और बोझिल उपदेशों के बाद गोम्बरोम बाबू ने आकर पीठ सहलाते हुए समझाया कि मुझे लेखक बनना चाहिए तब जरूर जी कुछ हल्का हुआ। धीरे से कागज, कलम लेकर मैंने निरंजन बाबू के पास इस्तीफा लिखकर भेज दिया।

कुंती ने एक बार कहा था—हे कृष्ण ! तुम मुझे बार-बार दुःख देना ! सुख के बीच मैं तुम्हें भूल जाऊंगी, दुःख ही में मुझे तुम्हारी याद आएगी। दुःख केवल ईश्वरीय चेतना के लिए नहीं, साहित्यिक चेतना, दार्शनिक चेतनता, जीवन की सारी गहरी अनुभूतियों के लिए राजद्वार की तरह है। 1949 ई० तक दुःख अथवा यन्त्रणा का अनुभव मैंने प्रायः नहीं ही किया था। मुझे केन्द्रित कर दादाजी, पिताजी, मां अथवा दादी को सुख-दुःख का अनुभव हुआ हो, मुझे पता नहीं। उनके सुख दुःख से मैं लापरवाह था और मुझे लगता था जैसे सारी धरती मुझे केन्द्रित कर घूमती है और दुनिया की बाकी सारी चीजें गौण हैं। सौ-सौ किताबें पढ लेने के बावजूद संसार के किसी सत्य ने मेरे चम को भेद कर मन और आत्मा को छुआ हो, मुझे पता नहीं। इसीलिए शायद एक दूर के रिश्ते की बहन जब ससुराल जा रही थी, वह रो रही थी, तो मैं हंस पडा था। पिताजी के रात में देव-दर्शन कर लौटते समय मेरी ही उम्र की फूफी किवाड खोलने आती, अंधेरे में मैं उसे चौंका कर डरा देता था। चाकर रसोइया सो जाता तो उसके मुंह में गुडाखू (गुड तंबाखू से बनी दांत घिसने की लई जैसा) भर देता था। विचित्र सी हल्की मनोवृत्ति लेकर मैं यह सब देखता था। परिणति के प्रति दूसरों की भावना के प्रति मुझमें सचेतनता नहीं थी। गाली, प्रशंसा, अनुभूति सुख-दुःख का एक अन्य पहलू भी है, इसकी मेरे अंदर कोई कल्पना न थी। जो मैं देखता था वही मेरे लिए दृश्य था जितना सुनता था, वही मेरे लिए श्रव्य था, और जिन्हें छूता था वे ही मेरे लिए स्पर्श्य बन जाते थे। उसी तरह अगर आज तक मेरा जीवन-प्रवाह गति

करता होता तो पता नही आज मैं किधर गया होता। आज उसका
अनुमान भी सिहरा देता है। कोई एक मेरे लिए दूसरी तरह से भी
सोचता था।

एक दिन जगन्नाथ वल्लभ गली से होकर मैं अपने मामा के यहा जा
रहा था जो कि स्टूडेंटस स्टोर्स मे काम करते थे। कोई मेरे पीछे से आया
और तजी से मुझे काटकर आगे बढ गया। उसका उस तरह से जाना
मेरे प्रति एक चैलेंज था। मैं भी उसके पीछे हो लिया। पर थोडी ही
दूर आगे बढा होऊगा कि किनारे की दुमजिली इमारत से किसीने छड़ा
फेंकी जो आकर मेरी बाइ आख मे टकराई। चीखकर साइकिल से
उतर गया। पहले तो मैंने सोचा कि मुझे उतारने के लिए ही आगे जा रह
साइकिल वाले ने कुछ फेंका है। पर ऐसा न था, वह काफी आगे निकल
चुका था और मैं उसके पीछे पीछे उसे पीछे छोड जाने की कोशिश मे था,
यह उसे पता न था। एक हाथ से चोट लगी आख को बद करके मैंने
आसपास की इमारतो को देखा। ऊपर कोई भी दिखाई नही दिया।
सडक पर घडी भी न थी। फुटपाथ भी उस समय सुनसान थी। सडक के
दोनो ओर ज्यादातर जगह मे कटीले झाड थे। मैं उसी तरह आख दबाए
मामाजी के घर तक गया और उन्ह खबर दे घर वापस आ गया। शाम को
'अदाज' देखने जाना था। फिल्म देखने किस तरह जाऊगा, यही चिंता थी।
सोच रहा था, आख का दद चला जाएगा और कोई खास परेशानी न होगी।
पर मेडिकल जाकर आख मे दवा डाल आने के बाद सिनेमा जाने का तो
सवाल ही नही रहा। पीडा बढती गई। मैं रात मे सो गया और सोचते
लगा कि कल ठीक होने पर देखा जाएगा। डाक्टर ने बताया था कि मेरी
तकदीर अच्छी थी जो काटा आख की पुतली के सफेद भाग मे लगा था,
काय मे नही वरना तो आख ही खत्म हो जाती।

शायद किसीके भाग्यवान होने के साथ उसके दुख दद का कोई
खास सम्बन्ध नही है क्योकि मेरी यन्त्रणा कम नही हुई। मैं आख खोलकर
देख न सका। पुतली हिलते ही उसमे डाली के गिरने जैसी अथवा चाबुक
सटकार जान जैसी पीडा होती और चीखकर मैं आख बद कर लेने को
बाध्य हो जाता था। उस दिन नही, दूसरे, तीसरे, चौथे दिन भी नही, दो

महीने तक रोज बड़े अस्पताल में जाकर दवा डलवाने के बावजूद आंख ठीक नहीं हुई। मुझमें डर और शंकाएं बढ़ती गईं। धीरे धीरे कालेज में 'प्रजेन्सी' बढ़ती गई और दोस्तों ने भी क्रमशः आना जाना घटा दिया। मैं शैयागत बन चुका था और 'अंदाज' के राजकपूर नर्गिस कटक में भी के छात्र चुके थे। एक आंख की पीड़ा, दूसरी आंख में फैलने लगी। घर पर सब चिंतित हो गए। गांव से मां आ गई थी, मां की गोद में मेरी पीड़ा और भी बढ़ गई थी। सूर्यदेव और देवी माता के प्रसाद से एक काना लड़का,' मेरा मां मरना चीखकर कहू। गांव की याद अलग से उभर आती थी रह रहकर। मां की बातों में गांव की मिट्टी, बातों में पक्षी का कलरव, साड़ी में सानबदी पोखर की कुई की खुशबू मानो आ गई थी।

सिर्फ किताब ही नहीं उड़ती चिड़िया, खिलते फूल बहती नदी, ऋतु और दिनों के अनुसार बदलते आकाश के रूप को भी मैं अब और न देख पाऊंगा—यह सोच-सोचकर बिस्तर पर पड़ा पड़ा रोता सुबकता रहता। अपने कमरे के अंदर बिस्तर पर पड़े पड़े घर के कोलाहल, छोटे भाई-बहनों के हंसी खेल, सड़क पर गुजरते रिक्शेगाड़ी और ट्रकों की आवाज, सुन सुन मेरी व्याकुलता बढ़ती जा रही थी। मुझे छोड़कर दुनिया अपनी राह चल सकती है दूसरे खूब हंस सकते हैं, खेल सकते हैं, इस उपलब्धि से बार-बार मेरा हृदय भर आता था। उसी समय मेरी बंद आंखों के अंदर एक और आंख खुलने लगी—भय, रोना, कल्पना सब मिलकर जैसे उस आंख की पलकों को खोलने को मजबूर कर रहे थे—'मैं कौन हूं?' 'मैं मर जाऊं तो भी क्या हर्ज है'? 'ईश्वर हैं भी या नहीं?' आदि सवाल मैं अपने आपसे पूछ रहा था और उनके जवाब पाने की कोशिश कर रहा था।

उन सवालों के जवाब ढूंढ़ते समय एक दिन मुझे विशाखापट्टनम चलने की तैयारी करने का आदेश मिला—पिताजी से। आंखों के प्रसिद्ध उड़िया डाक्टर सत्यनारायण गनायत ने वहां खूब नाम कमाया था। उन्होंने मेरे इलाज का भार लिया था।

डाक्टर गनायत की चिकित्सा, जगह बदलने का प्रभाव, समुद्र तट के अस्पताल की सुव्यवस्था और मेरे दृढ़ संकल्प और उसकी इच्छा से मेरी

करता होता तो पता नहीं आज मैं किधर गया होता। आज उस
अनुमान भी सिहरा देता है। कोई एक मेरे लिए दूसरी तरह से
सोचता था।

एक दिन जगन्नाथ वल्लभ गली से होकर मैं अपने मामा के य
रहा था जो कि स्टूडेंटस स्टोर्स में काम करते थे। कोई मेरे पीछे र
और तेजी से मुझे काटकर आगे बढ़ गया। उसका उस तरह
मेरे प्रति एक 'चलेंज' था। मैं भी उसके पीछे हो लिया। पर
दूर आगे बढ़ा होऊंगा कि किनारे की दुमंजिली इमारत से कि
फेंकी जो आकर मेरी बाईं आंख में टकराई। चीखकर र
उतर गया। पहले तो मैंने सोचा कि मुझे उतारने के लिए ही
साइकिल वाले ने कुछ फेंका है। पर ऐसा न था, वह काफी
चुका था और मैं उसके पीछे पीछे उसे पीछे छोड़ जाने की
यह उसे पता न था। एक हाथ से चोट लगी आंख व
आसपास की इमारतों को देखा। ऊपर कोई भी दिख
सड़क पर घड़ी भी न थी। फुटपाथ भी उस समय सुनसा
दोना और ज्यादातर जगह में कटीले झाड़ थे। मैं उस
मामाजी के घर तक गया और उन्हें खबर दे घर वापस
'अंदाज' देखने जाना था। फिल्म देखने किस तरह जा
सोच रहा था, आंख का दर्द चला जाएगा और कोई
पर मेडिकल जाकर आंख में दवा डाल आने के बाद
सवाल ही नहीं रहा। पीड़ा बढ़ती गई। मैं अत
लगा कि कल ठीक होने पर देखा जाएगा। डाक
तकदीर अच्छी थी जो कांटा आंख की पुतली के
बायें में नहीं वरना तो आंख ही खत्म हो जाती

शायद किसीके भाग्यवान होने में साथ
खास सम्बन्ध नहीं है क्योंकि मेरी यंत्रणा कम
देख न सका। पुतली हिलते ही उसमें डाली
सटकार आने जैसी पीड़ा होती और चीखने
बाध्य हो जाता था। उस दिन नहीं, दूसरे

राजेन्द्र यादव

बस, उस सामने वाली झाडी तक ही तो पहुचना है

उसे लगता है, इस बार वह काफी सुरक्षित जगह आ गया है। इस खेत को पार करते ही पगडडी और फिर झाडियो का झुरमुट वहीं बैठकर वह कुछ देर सुस्ताएगा, तभी देखेगा कि गोलियो कि खराचें, स्पिलटस या टूटते मकानो के ईंट पत्थर शरीर मे कहा कहा लगे है ? अभी तक अपने बचे रहने पर आश्चर्य होता है। शायद कोई भी चीज किसी खतरनाक जगह नही लगी है, वरना वह तो वही ढेर हो जाता। उसने फिल्मो, टलीविजन मे देखा है, उपन्यास कहानियो मे पढा है और सुन-समझकर ऐसा लगता है, जैसे उस सबको आखो और चेतना से भोग भी चुका है गोली या फटते गोलो के टुकडे उछलते हैं, धूल मिट्टी या दूसरी चीजो के परखचे उडते हैं और धुआ साफ होते होते तो आदमी मलबे का ढूह रह जाता है। इस तरह मरने से पहले अपने शरीर को ऐंठते और मरोड खाते खुद कितनी स्पष्टता से जी चुका है। वह दौड रहा है जान कितने घटो और युगो से दौडता रहा है और अभी भी उसे सामने की झाडी दीख रही है, निरन्तर कम होती दूरी दीख रही है, इसीसे क्या यह साबित नही होता कि वह मरा नही है, शायद मरेगा भी नही !

पर सुनते हैं, लडने और भागने के दौरान जो चोटें महसूस नही होती, वे बाद म जिन्दगी भर टीसती रहती हैं। ऐसे समय तो एक ही उन्मत्त आवेग एक ही उन्माद होता है, इस स्थिति से जैसे भी हो बच निकलो लेकिन इसके बाद गुजरी हुई स्थिति का बार बार लौटता आतक शरीर और चेतना पर लगे घावो का नस-तोड दद, खुली आखो मे मडराता सत्रास—आदमी सिर्फ चारपाई पर पडा पागलो की तरह चीखता और कराहता है क्या वह भी इसी तरह असहाय और अपग कहीं ऐसा तो नही होगा कि वह झाडी के नीचे बैठे और उठ ही न पा ? या बैठते

आंख ठीक हो गई। अच्छी हो जाने के बाद भी आगे सोलन से पीड़ा के अनुभव का डर फिर भी कई दिनों तक बना रहा जिसमें मैं हरदम आतंकित रहता था। अत में एक दिन मैं लौट आया—ट्रेन चलती रही, दोनो ओर अनगिनत ताड के पेड, पूर्व दिशा में समुद्र की सतह पर उड़ते पक्षी, धरती के गौरव को वहन करती पुष्ट सुदर तैलंग युवतियों को देखता हुआ कटक लौट आया। काल ममर पत्थर के रंग से डाक्टर गनायत मेरे लिए देव वैद्य बन गए थे। विशाखापट्टनम मेरे लिए अमरावती बन गया था। कुछ नही समझ पाने के बावजूद तेलुगु भाषा मुझे मधु की तरह लग रही थी, मेरे लिए वह भाषा मनोहर बन गई थी।

1950 रेवेंशा कालेज के प्रथम वर्ष (कला) में मैं फिर से दाखिल हुआ। तब मैं अपने आप अपने सहपाठियों के साथ एक साल पीछे आ गया। पर उनका मुझसे एक साल आगे बढ जाना मेरे लिए कोई दुख की बात न थी। उनमें से कई मुझसे अधिक सुदर, स्वास्थ्यवान और ऐश्वर्यवान भी तो थे। मैं अतीत के द्वारा नहीं भविष्य की कसौटी पर अपने अस्तित्व की यथार्थता को परखूगा ऐसी मेरी प्रतीक्षा थी। ससार में मेरी आवश्यकता को लेकर ईश्वर से कुछ प्रमाण भी मुझे मिल गए थे क्योंकि अंधा या काना होकर उड़ीसा नहीं लौटा था मैं।

अनुवाद श्रीनिवास उद्गाता

राजेन्द्र यादव

बस, उस सामने वाली झाडी तक ही तो पहुचना है

उसे लगता है, इस बार वह काफी सुरक्षित जगह आ गया है। इस खेत को पार करते ही पगडडी और फिर झाडियो का झुरमुट वही बैठ-कर वह कुछ देर सुस्ताएगा, तभी देखेगा कि गोलिया कि खरोचें, स्पिलटस या टूटते मकानो के ईंट-पत्थर शरीर म कहा-कहा लगे है? अभी तक अपने बचे रहने पर आश्चय होता है। शायद कोई भी चीज किसी खतरनाक जगह नही लगी है, वरना वह तो वही ढेर हो जाता। उसने फिल्मो, टेलीविजन मे देखा है, उपन्यास कहानियो मे पढा है और सुन-समझकर ऐसा लगता है, जैसे उस सबको आखो और चेतना स भोग भी चुका है गोली या फटते गोलो के टुकडे उछलते हैं धूल मिट्टी या दूसरी चीजो के परखचे उडते हैं और धुआ साफ होते होते तो आदमी मलबे का ढूह रह जाता है। इस तरह मरने से पहले अपने शरीर को ऐंठते और मरोड खाते खुद कितनी स्पष्टता से जी चुका है। वह दौड रहा है, जाने कितने घटो और युगो से दौडता रहा है और अभी भी उसे सामने की झाडी दीख रही है, निरन्तर कम होती दूरी दीख रही है, इसीसे क्या यह साबित नही होता कि वह मरा नही है, शायद मरेगा भी नही?

पर सुनते हैं, लडने और भागने के दौरान जो चोटें महसूस नही होती वे बाद म जिन्दगी भर टीसती रहती हैं। ऐसे समय तो एक ही उन्मत्त भाव, एक ही उन्माद होता है, इस स्थिति से जैसे भी हो, बच निकलो लेकिन इसके बाद गुजरी हुई स्थिति का बार बार लौटता आतक शरीर और चेतना पर लगे घावो का नस-तोड दद, खुली आखो म मडराता सत्रास—आदमी सिर्फ चारपाई पर पडा पागलो की तरह चीखता और कराहता है क्या वह भी इसी तरह असहाय और अपग? कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि वह झाडी के नीचे बैठे और उठ ही न पाए? या बैठते

ही ऐसे कि चारो तरफ से हमलावरो ने उसे घेर लिया है और वह सिर्फ निरुपाय होकर मौत के नगे पजो का अपनी तरफ बढना देख रहा है ? तब इस गुडडी का क्या होगा ? कहीं वह झाडी भी तो दुश्मन को छिपाए उसकी घात मे नही बैठी ? फिर किधर जाएगा ? कोई न कोई रास्ता वहा भी निकलेगा—उसने अपने-आपको समझाया, हर जगह एक रास्ता होता है।

पहले किसी तरह वहा तक पहुचो तो सही। वह अपने आपसे बोला, और कबल मे लिपटे बडल को उसने और भी जोर से छाती पर चिपका लिया—इस तरह कि उसपर दबाव न पडे। और तब धिक्कार म उसन अपने आपको गाली दी—देखो वह सिर्फ अपने बारे मे सोच रहा है अपन शरीर और जीवन की चिन्ता कर रहा है और गुडडी की बात एकदम भूल ही गया है। लेकिन इस क्षण वह और गुडडी अलग कहा हैं ? बल्कि इस समय जिस स्थिति मे गुजर रहा है वह तो सिर्फ गुडडी के ही लिए है। उसे अपने आपको नही सिर्फ इस गुडडी को सुरक्षित जगह पहुचा देना है किसी तरह इसे बचा ले फिर भले ही झाडियो के नीचे ढेर हो जाए मुन्नी मैं अपने लिए नही सिर्फ तेरे लिए भाग रहा हू यह बात वह गुडडी का नाम लेकर कहना चाहता था। लेकिन अचानक लगा जैसे उसका नाम ही भूल गया अरे यह क्या हुआ ? वह चौंक कर सहसा ठिठक गया इसका नाम मुझे नही याद आ रहा ? उफ, क्या नाम है तेरा ? आयशा मरियम मीना नही, नही। यह इसका नाम नही है। सचमुच ही अपनी बच्ची का नाम भूल गया क्या ? कही उसकी याददाश्त तो एकदम नही खत्म हो गई ? अब ? अच्छा, मेरा अपना खुद का क्या नाम है ? अभी अभी कुछ हुआ जरूर है उसके साथ ? लेकिन फिर उसन जोर से सिर को झटका दिया और दौडने लगा नाम वाम पीछे याद आते रहेगे, पहले वहा पहुचो जैसे भी हो

काश वह झाडियो के भीतर जाकर पाए कि वही कोई और भी छिपा बैठा है चौंक और डरकर वह वहा से भी भागने की बात सोचे और तभी लगे कि वह एक औरत है तब तो वह गुडडी को उसे सौंप

ही सकता है। हर औरत मा होती है। वह जरूर इसे बचा लेगी, पाल देगी लेकिन लोना को ही भागे या वहा किसीने पकड लिया या मार दिया तो ? नही, नही, ऐसा नही होगा। जो इस मार धाड गोलाबारी और अधाधुध भागदौड मे नही हुआ, वह वहा कसे होगा ? होना होता तो अभी तक हो जाता। अभी भी तो हो सकता है ! और मान लो कि ऐसा चमत्कार हो कि वह औरत इसकी मा ही हो तो ? वह तो शायद खुशी से वही मर जाएगी अपनी गुड्डी को पाने की खुशी मे जोर-जोर से रोने धोने लगे तो ? इन औरतो के साथ यही मुसीबत है बहुत खुश होगी तो रोएगी बहुत दुखी होगी तो रोएगी वह कमबख्त उस वक्त हम तीनो को पकडवा देगी। पहचानते ही मैं सबसे पहले उसका मुह दबा दूगा

जरूर वहा झाडी के पीछे कोई चमत्कार उसकी प्रतीक्षा कर रहा है, हजारो बार की तरह फिर एक विश्वास उसके भीतर एटम बम के धुए जैसा कुकुरमुत्ते की शक्ल मे आकार ग्रहण करता महसूस होता है। मान लो ऐसा चमत्कार हो ही जाए और हम तीनो फिर से मिल जाए ? फिर तो दोनो मा बेटी मिलकर मेरी इन खरोचो, घावो और बाहरी-भीतरी चोटो को अपनी सेवा से सभाल लेंगी भले ही वह फिर जिदगी भर चारपाई से न उठ पाए। उसने देखा कि वह एकदम असहाय और असमर्थ पडा है और मा बेटी चिता म उसके आसपास घूम रही हैं। कभी उसकी सेवा सफाई करनी है, कभी करवट बदलवाती हैं कभी कुछ खिलाने पिलाने के लिए सहारा दकर उठाती हैं गुड्डी पास बैठकर उसे अखबार और किताबें सुनाती है, अपने और उसके बचन भागने की पूरी कहानी विस्तार स सुनती है, और भय, आतक, आश्चय से आखें फैलाए उस सबकी कल्पना करती है। सुनाते सुनाते वह फिर इसी क्षण में लौट आता है गुड्डी मुझे तो आज भी विश्वास नही होता कि मैं तुझे लिए हुए इस सब स गुजरा ■

गुजरा कहा हू, मूरख, गुजर रहा हू। उसने अपने को झकझोरकर

फिर वापस हाका। उल्लू के पटठे, यह समय भविष्य मे जीने का नही, इस क्षण को पार कर लेने का है, दहकते अगारो की इस पट्टी को फलाग कर दूसरी तरफ चले जाने का है। मान लो, आज या कल इस स्थिति से बचकर निकल भी गया तो क्या इसी बीच गुडडी इतनी बडी हो जाएगी कि सेवा करते हुए तुम्हारी चारपाई के आसपास घूमे ? या बठकर कहानिया सुने-सुनाए ? डेढ साल की बच्ची अभी पूरे वाक्य तो बोल नही पाती कभी कभी यह साली कल्पना भी कैसी प्रखर हो जाती है। कल्पना नही, सिफ इस क्षण से छूट भागने का बहाना गुडडी तो वह है जो इस फटकर चिथडा हो गए कबल मे लिपटी तुम्हारे हाथ मे है पता नही, इसमे लिपटी सास भी ले पा रही है, या नही, वेहोश तो जरूर हो गई है कही एकदम ही और वह याद करने की कोशिश करने लगा कि घर से भागते हुए जब चौखट गिरी थी तो उसे मैंने अपनी बाहो और कधो पर ही तो झेला था, गुडडी को चोट कहा लगने दी थी ? क घे से लेकर कुहनी तक बाया हाथ दद कर रहा है। कपडे और खाल फटने की तो कोई चिन्ता नही कही हडडी न टूट गट गई हो अभी नही, अभी नही—उसी झाडी के नीचे बैठकर दखूगा कि क्या टूटा है क्या बचा है वहा बैठकर वह जरूर सुरक्षित सास ले सकेगा इस अ धी और दिशाहीन दौड को समाप्त करके सोचेगा कि आगे क्या करना है काश, उसे जरा दम लेने का मौका मिल जाए बस, फिर तो पचास मील आगे और दौड लेगा ।

लेकिन वहा से भी अगर पिछली दजनो बार की तरह भागना पडा तो ? पता नही कितनी बार उसे लगा है कि उस दीवार की आड म सुरक्षा है इन मोड को पार कर ले तो खतरे से बाहर हो जाएगा। इस गली के पास ही तो पुरानी इमारत का खडहर है, उससे लगा कब्रिस्तान है, वहा जरूर सास ले सकने की गुजाइश मिलेगी, लेकिन हर जगह ही तो खतरा उसे और बडा होकर मिला है—खूखार, पागल भेडिये की तरह उसपर झपटटा मारने को तैयार कही उसे बहुत पास ही दूटा और लोगो के भागने की भारी धमकती हुई आवाजें मिली हैं कहीं पहल से ही कराहकर दम ताडते कटे फटे, सुरक्षा की खोज में भागे हुए उसी

जैसे लाग मिले हैं, और कही उसके पहुचने से पहले ही आकाश पाताल फोडने वाले धमाके हुए हैं और सब कुछ खूनी कौंध के साथ आख फोड विस्फोट म टुकडे टुकडो मे बिखर गया है, तब हर बार उसने गनीमत की साम छोडकर सोचा है अच्छा हुआ वहा नही था वरना बचपन म उसने बनैले सूअर को मार जात देखा था चारो ओर से लोग भाले, गडास कुल्हाडिया और डडे लिए दौडते थे, ढोल बजाते, चीखते पुकारते, हाके लगाते कभी कभी तो फँसे हुए भाल की पूरी फाल पेट म लिए-लिए ही सूअर दौडता था—भाले के पीछे घिसटते डडे के साथ खून की धार छोडता हुआ, चिघियाता और चीखता हुआ

समझ म नही आता, कौन हैं जो या एक एक घर को फूक रहे हैं, सभी कुछ तो ताडे फोडे और तहस-नहस किए जा रहे हैं ? कभी कभी उसे लगता है जैसे माहौल म हर हर महादेव' और 'अल्लाहो अकबर' का शोर हो रहा है तो कभी लगता है जैसे हमलावरो मे जनऊ और लम्बी मूछोवाले लोग हैं जो दहाड रहे हैं नीच, कमीना, ठाकुरो और ब्राह्मणो की बराबरी कराग हम एक एक घर फूक देंगे बच्चे-बच्चे का चीर देंगे कभी कही से सुनाई देता है, साला जनरा, बगाली—हम पजाबियो और पठानो के मुह लगता है, तेरे काजी नजरुस्सलाम और मुजीब की मा नही, नही, ये सब तो बहुत पुरानी पढी सुनी अखबारी बातें उसे याद आ रही हैं यह तो कोई और ही आफत है। शायद कुछ लोग कह रहे थे शहर को दुश्मनो ने चारो तरफ से घेर लिया है यह उन्हीका हमला है एक एक घर की इट बजा देंगे या शायद कोई यह भी कह रहा था कि अपनी ही हारी हुई फौजें पीछे भाग रही हैं। सब जानते हैं हारी हुई फौजें, हमलावर फौजों से ज्यादा खूखार होती हैं वे अपने ही शहर, फैक्टरिया और पुल उडाती हैं, अपने ही रसद और हथियारो के गोदामो को आग लगाती है फसलें, खेत, दुकानें जलाकर फूक देती हैं और अगर बची रही तो अगले दिन मुनादी करा देती है यह सब दुश्मन ने किया है दुश्मन की फौजें अपने जैसे कपडो और निशानो म आई थीं हा, हा, हमारे लिए तो 'दुश्मन' ही हैं, 'जीत की योजनाओ मे मार जाते हो या 'हार के बचाव म' मरना तो हमे ही है।

हमारे तो दोनों ही दुश्मन हैं! सरहदों पर बैठे हुए, या सरहद बनाने वाले। शहरों, खेतों, या पुलों की भी कैसी बदकिस्मती है हर हालत में रौंदा उन्हें ही जाना है लेकिन आज स्थायी सरहद रह कहां गई है? हारे हुओं की सरहद क्या होती है? चाहे कितने पीछे सरकते जाओ, फुफकारते अजगर की सरहद उतनी ही पीछे लौटती आती है

मगर कहीं कोई दीखे, या पहचान में आए तो कम से कम यह तो समझ में आए कि दुश्मन हैं कौन! अपने 'दुश्मन' हैं बाहरी! यह भी तो याद नहीं आ पा रहा कि यह लड़ाई कब शुरू हुई थी! किन किनके बीच शुरू हुई थी! अब तो चीजें कुछ कुछ दीखती हैं, वरना जब 'हमला' हुआ था, तब तो बहुत ही अजीब हालत थी। आसमान में छाया हुआ गाढ़ा गाढ़ा धुआं बीच बीच में इधर से उधर उछाली जाती या फेंकी हुई टूटी फूटी चीजें किवाड़ कुर्सियां शहतीरें या शरीर के हिस्से लेकिन सबसे ऊपर एक दूसरे के पीछे दौड़ते काले धब्बों और चकत्तों की शक्ल में निरन्तर और लगातार गूंजता एकरस शोर पता नहीं चलता था कि यह शोर टैंकों, मोटर गाड़ियों, हवाई जहाजों का था या माहौल में गूंजती चीख पुकार, नारों और दहाड़ों का मिला जुला गड़मड़ शोर था कभी बहुत ही पास, कभी कहीं बहुत दूर गूंजते धमाके और धड़धड़, भड़ भड़ की कराहों के साथ गिरते मकान, फाटक, मीनारें या परकोटे की दीवारें

ऐसे में कोई किसे पहचाने? गौर से किसी भी चीज को देखने की फुरसत किसे है? सिर्फ ऐसा लगता था जैसे दिमाग में किसी भारी चक्की का इंजन चल रहा है और उसे बन्द करने का स्विच टूट गया है देखते रहो देखते रहो, कुछ पता ही नहीं चलता कि आखिर देख क्या रहे हो, मानो दूसरी और चीजों की तरह देखने और समझने का जोड़े रखने वाले सारे तारों को किसीने डायनामाइट से उड़ा दिया है, और यहां सिर्फ लगातार गूंजती स्थानी थर्राहट और सांय सांय गालियां सा गुजरता कुछ है जो मौत को देखकर डर हुए कुत्ते सा रिरियाता भौंकता है भागो भागो, यह जगह ठीक नहीं है, इस जगह खतरा है, यहां से भागो, देखो उधर मे कोई आ रहा है उस दीवार के पीछे बंदूक की नली सा कुछ दीखता है

धांय की आवाज के साथ ही चीखकर कोई लुढ़क जाता है कहीं भी

जाग्रो, किसीकी भी आड लो, लेकिन यहा से भागो

हर क्षण लगता है, यहा नही, वहा वहा नही उधर बिना चेहरे के कुछ लोग हैं, लेकिन दहशत घोला-सी आखें हैं, हाथो मे खून-सनी सगीनें लिए दल के दल पीछा कर रहे हैं, इधर से उधर दौड रहे हैं—लोग नही, सिर्फ सगीनें, आखें और भारी भारी बूट हैं जो धमाधम हर गली, हर मोड, हर दरवाजे और हर चौराहे पर खडे हैं कुछ लाइन लगाकर सीढियो पर चढ उतर रहे हैं, कुछ निशानो की ताक मे खिडकिया से भाक रहे हैं। घिर गया हू घिर गया हू—अब कोई बचाव नही है

अपने आपसे वह कहना चाहता है। लेकिन सिर्फ एक रिरियाहट भीतर स उभरती लगती है क्या कोई उसे अपने लिए नही अपन लिए कतई नही, बस सिर्फ इसलिए माफ नही करेगा कि वह निरीह, निरपराध बच्ची को बचाने के लिए भाग रहा है ? वह न कुछ चुराकर भाग रहा है, न उसका इरादा किसीको नुकसान पहुचाने का है। चेहरा पर इन लोगा ने चढा क्या रखा है ? किसीका अलग से कोई नाक नक्श पहचान म ही नही आता सब एक जैसा तोबडा चढाए हैं, अगर इस तरह के ढाट न बाधे होते तो हो सकता है किसीको पहचान ही लेता हो सकता है उनम कोई उसका परिचित होता सभी तो बाहर से आए हुए नही होगे

कुछ तो यही के, हो सकता है—उसके पास पडोसी ही हो और उसे जानते हो। मगर यह पता कैसे लगे ? मान लो, इधर-उधर से, सामने पीछे से, आखो सगीनो, भालो गडासो और बूटा का एक झुड अचानक घेर लेता है तो वह क्या करेगा ? कबल लिपटे बडल को आगे बढाकर घिघियाते हुए भीख मागेगा भाइयो मुझे मत मारो, मैं अपन लिए नही, इस बच्ची के लिए इधर स उधर जान बचाता भाग रहा हू, इसपर रहम करो इसन किसीका कुछ नही बिगाडा बिगाडा मैंने भी नही है, लेकिन इसे तो अभी कुछ भी करने न करने का मौका ही नही मिला लेकिन वे लोग उसकी गिडगिडाहट सुनेंगे? उसकी बात का विश्वास करेंगे?

नही, उनम से एक सगीन या बर्छी झपटकर उसस बडल छीन लगी और फिर वे उसके सामन ही उसे गेंद की तरह इधर स उधर उछालेंगे

मशीनों और भालों पर रोकेंगे कुछ देर वे मनोरंजन करेंगे और फिर धाय की एक आवाज के साथ सभी कुछ समाप्त हो जाएगा

और इस भयानक कल्पना के बाद वह और भी बेतहाशा भागा है। कहीं यह कल्पना एक चालाकी ही तो नहीं है? एक हल्का सा सवाल उसके भीतर उठा है क्या ऐसा तो नहीं है कि वह भीतर से जानता है कि गुड्डी मर चुकी है अब उसको दिखाकर, हमलावरों की दया उभारकर वह अपने आपको बचा लेना चाहता है? अपनी जान बचाने के लिए गुड्डी की लाश का इस्तेमाल कर रहा है? इस प्रश्न ने उसे भीतर से तिलमिला जरूर दिया था लेकिन भागने में कहीं कोई ढील नहीं आई थी। उसकी दौड़ और जोर से जारी रही कभी लेटकर जमीन पर घिसटते हुए, कभी घुटनों के बल, और कभी तीर की तरह सिर्फ एक जगह, अंधेरी-सी गली में, मलबे और कूड़े के ढेर के पीछे उसे पल भर का अवसर मिला था। उसने बंडल जमीन पर रखकर थरथराते हाथों से कमीज उतार डाली थी, उसकी बांहें फाड़ डाली थीं, कमीज फिर से पहनकर बंडल छाती से चिपकाया था और ऊपर-नीचे बांहों को रस्सियों की तरह बांध लिया था ताकि बंडल कमीज के अंदर और ऊपर नीचे से सुरक्षित रहे। बड़ी अजीब सुखद, सांत्वना देती-सी गर्मी उसे छाती पर महसूस होती रही थी, और इस तरह उसके दोनों हाथ खाली हो गए थे। लेकिन भागते हुए वह दोनों हाथ वहां रखकर बंडल को साध लेता था, जमीन पर रेंगते हुए, उसे बचाकर कुहनियों और घुटनों के बल सरकाता था और उसे हर समय लगता रहता था जैसे ऊपर और नीचे पटियों की तरह कसी कमीज की बांह ढीली हो गई है और बंडल अब सरककर गिरने ही वाला है नहीं वह उसे गिरने नहीं देगा। जैसे भी हो, उसे तो कहीं बचाव की जगह पहुंचा ही देना है। (काश, आदमी के पास भी कंगारू की तरह की एक अवसर के लिए एक थैली होती) शायद इस तरह अलग शब्दों में वह सोचता भी नहीं था, उसकी संपूर्ण चेतना में समाई हुई निरानंद और अनवही स्थिति ही यही थी लेकिन इसके साथ ही दो बातें और दिमाग में आई थीं हाथ में, सामने, बच्ची रहती है तो हमला करने वाला एक बार सोचता है। हो सकता है वह खुद भी बाल-

बच्चा वाला हो और अपने भीतर दया महसूस करे अब तो किसीको कुछ पता ही नहीं चलता कि उसके पास कोई बहुत नाजुक, नन्ही-सी धड़कती जान है। फूली हुई कमीज के भीतर तो कुछ भी हो सकता है, चुराकर उठाई हुई चीज, कोई कीमती सामान, या दूसरों को मारने के लिए कोई गोला-बारूद, या दुश्मन की खबर कहीं अपना तक पहुंचाने के लिए वायरलेस सेट यानी इससे खतरा और बढ़ गया है। दूसरी बात पर उसने अपने आपको धिक्कारा बच्ची मर तो गई ही है बेजान शरीर और मिट्टी के ढेल में फर्क क्या है ? अगर किसीने सामने से संगीन, गोला या ऐसी ही कोई चीज मारी तो हो सकता है उसके अपने शरीर तक पहुंच ही न पाए लेकिन इस विचार के साथ ही ग्लानि का एक ऐसा ज्वार उसे अपने भीतर उमड़ता लगा कि मन हुआ, कि यहीं ढह कर बैठ जाए और चीख चीखकर पुकारे आओ, आओ मुझे मारो, मुझे गोद दो, संगीनों और गंडासों से मेरी बोटी बोटी काट डालो। मेरे पास बचाने के लिए कुछ है इस बात पर बिल्कुल रहम मत करो तुम्हें कसम है जो मेरा रेशा-रेशा न बिखेर दो मैं नीच, कायर, इसे भी इस्तेमाल करना चाहता था इस मेरे ऊपर थूको रहमदिलो !

पता नहीं, कितनी बार यह बात उसके मन में आई कि इस आतंक और तनाव के नस नस तोड़ देने वाले दबाव को वह कितनी देर और बर्दाश्त करेगा ? क्या नहीं यहां गिरकर दम तोड़ देगा ? क्यों नहीं लोगों के सामने जाकर भीख मांगता मेरे ऊपर दया करो, मुझे मार दो इस अंधी दौड़ से मैं तंग आ गया हूं, जहां न कोई बचाव है न रास्ता, न मौत है न भागने की दिशा तुम्हारे हाथ की जरा सी हरकत से मैं मुक्त हो जाऊंगा मुझे जिन्दगी नहीं, सिर्फ इस यातना से मुक्ति चाहिए इस संत्रास से खींचकर मुझे बाहर निकाल दो मैं तुम्हारा बहुत बहुत शुक्रगुजार रहूंगा बहुत बार तो सचमुच उसे खुद डर लगा कि कहीं वह ऐसा कर ही न डाले और अपने को जाकर उनके सामने न फेंक दे—या पुकारकर उन्हें ही न बुला ले नहीं जानता, उस ऐन मौके पर कौन रोक लेता था—अपनी कायरता या इस गुड्डी को बचाने की इच्छा

उसे लगता है जैसे एक अंधविश्वास उसके भीतर, उसके अस्तित्व

मे समाया हुआ है—वह अब तक बच और भाग इसीलिए पा रहा है कि उसके पास यह 'बडल' है। वरना ऐसे हालात मे, उसके यू बचे रहने का इधर से उधर भागने की जो तोड कोशिश या अपने भीतर उस शक्ति को पाने का कोई कारण है ? उसके भीतर मर मरकर जीता हुआ यह बल इस 'बडल' के साथ होने का है, या इस अनकहे निणय या कसम का कि यह है तो इसे बचाना ही है ? हर कसम क्या मुक्का तानकर ही खाई जाती है ? कुछ कसमे, आपके अनचाहे अनजाने आपके अस्तित्व म अपने-आप एक रूप नही ले लेती ? बल्कि वह कसम और आप अलग नही होते

ऐसे सकटो मे तो कसम है, इसीलिए आप होते हैं चूकि यह कसम शब्दो का आधार लेकर आपके होने से अलग नही कर दी जाती, इसलिए अध विश्वास' जसी लगती है

पता नही कितनी बार उसे लगा है कि अब उससे एक इच भी नही सरका जाएगा, अगला पाव उठा सकना असभव है, लेकिन कोई है जो उसे पीछे से धकेल देता है—सामने से खीच लेता है। 'गुड्डी' के नाम पर वह एक बजान बोझ को व्यथ ही तो नही ढोये फिर रहा कई बार उसने अपने से पूछा है इसमे अब कुछ नही रखा, इसे एक तरफ फेंको और हलके होकर देखो, इस स्थिति मे क्या हो सकता है। मगर फिर फौरन ही दूसरी आवाज उभरती है मरी नही है मरी नही है सिफ बेहोश हो गई है। मर गई होती तो उसकी सारी शक्ति उसी क्षण चुक गई होती उसके भीतर की यह शक्ति, उसे बचाने की यह आस्था—गुड्डी ही तो दे रही है, उसकी अपनी तो नही है कही और से ही आ रही है। एक बार तो शायद ऐसा हुआ भी था (देखो साथ साथ घटित होती हुई बातो को वह कसे भूलता चलता है, पता ही नही कि हुआ था या सिफ सोचा था) कि टूटे हुए किवाड के नीचे उसने बहुत आहिस्ता से बडल सरका दिया था, और वह अपने को तोडकर वहा से हट आया था। पर फिर उसे लगा, इतने मलबे, लाशो मे आज नही तो कल कुत्ते बिल्ली जरूर अपना भोजन तलाश करेंगे। कौन छोड देगा इस मुलायम और स्वादिष्ट भोजन को ? दूर ओट से खडे होकर गठरी को ताकते हुए उसे लगा था जसे उसमे हलकी सी जुबिश हुई है। और फिर उससे रहा नही गया। दुगने वेग और आवेग से उसे उठाकर

छाती से चिपका लिया और तब आसपास के प्रत्येक झटके से सयत होकर एक तरफ भागा

अपने आप पर उसे बहद आश्चय भी होता है इतना प्यार, इतना लगाव और गुड्डी को बचा लेने की एसी अमदनीय, उद्दाम भावना उसके भीतर कहा छिपी थी ? यह सही है कि बाप होने के बाद उसने अपने भीतर ऐसे अनेक परिवतन पाए थे, जिनकी उसन कल्पना भी नही की थी । लोगो के प्रति उसका रवया कुछ अजीब ढग म कोमल हो गया था, पहले वह चीजो और बातो को सिफ अपनी निगाह स ही देखता था, निद्व द्व और लापरवाह था, लेकिन गुड्डी के बाद ऐसा नही कर पाता था, जैसे उसकी कल्पना शक्ति एकदम उवर हो गई थी। पहले वह लोगा और स्थितियो को सिफ एकहरा और इकलौता देखता था, अब उनके पीछे बहुत कुछ दीखने लगा था । हर व्यक्ति जसे एक झरोखा था और उसके पार वह एक निहायत परिचित अपने जैसे ससार को देखता था, कही उसमे हिस्सा लेता था। उसके साथ उसका अतीत और भविष्य भी दीखता था, हर बच्चे के पीछे कही एक छोटा सा घर उसके मा बाप, भाई-बहन दीखते थे। अपने इस बदलाव से वह भीतर ऐसा भरा भरा महसूस करता था, कि खुद ब खुद उसका मन कुछ भला और अच्छा करने को करता, खराब और बुरा करन की बात सोचते ही कोई उसका हाथ पकड लेता। शरीर विज्ञान की यह मशीनी बायलाजिकल प्रक्रिया और उसका परिणाम इस तरह के आध्यात्मिक और भौतिक कायाकल्प करती है जसे इस अनुभूति ने भीतर से उसे बहुत समद्ध और उदात्त कर दिया था। बाप होना सिफ एक घटना नही, मानसिक जीवन का एक बहुत ही महत्त्वपूण मोड है, इसपर उसका मन घटा बोलने को करता, लेकिन जब बोलन लगता तो, खुद काना को वे बातें वसी ही साधारण और रोजमर्रा की लगती, जैसी सब लोग बोलते हैं। तब वह झेंप जाता। अक्सर झुंझलाता कि ये झिझक, झेंप आगा पीछा सोचना हर चीज का दूसरो की निगाह से देखना, जाने कितनी फालतू की बीमारिया उसे लग गई थी, जिन्ह पहले उसने कभी नही जाना । घर स बाहर निकलता तो गुड्डी मानो एक तार उसस बाध देती। वह कही भी रहता उस तार का खिंचाव लगातार महसूस होता

रहता।

हालांकि एक अफसोस भी उसे कम नहीं था। सारे दिन में उनके साथ बिताने के लिए मुश्किल से घंटा आध घंटा निकाल पाता होगा। हर क्षण एक चीज को महसूस करते रहना और सबसे बढ़कर केवल उनीके साथ होना दो अलग बातें हैं वही अपने काम, इधर-उधर की भाग दौड़, दोस्त, राजनीति या अपनी ही योजनाओं में उसके पास घर के लिए समय ही कहां होता था ! यह सारे समय तुम्हारे लिए ही टुकुर टुकुर देखती रहती है। जब तब आते हो, थककर सो जाते हैं। उसकी मां शिकायत करती। और तब अपने सारे मानसिक कायाकल्प के बावजूद वह अपने आपसे सीधा सवाल पूछ लेता सचमुच, उसके मन में पिता जैसी कोई भावना भी है, या सिर्फ उसने एक भ्रम पाल लिया है ? गुड्डी की मां तो आरोप लगाती ही थी, लेकिन वह खुद शंका करता था कि क्या सचमुच 'बाप' जैसी कोई भावना उसमें है भी ? दूसरों को देखकर यह बात और शिद्दत से उठती कैसे वे बच्चों को लेकर दुलारते हैं, बातें करते हैं, अक्सर उन्हीं के बारे में बोलते रहते हैं घंटों का समय निकालकर उनके साथ खेलते घूमते हैं, और तब वह अपने को धिक्कारता कि वह अपनी बच्ची के बारे में इस तरह क्यों नहीं बोल पाता ! वह यही मानकर क्या संतुष्ट और शांत रहता है कि 'गुड्डी' है और घर में खेल रही है ? औरों जैसा उसके भीतर वह सब कुछ क्यों नहीं उमड़ता ? जरूर उसकी बनावट में कुछ कसर है वरना ये सारी इच्छाएं तो बहुत स्वाभाविक हैं ! लेकिन अब अचानक ही यह प्यार, यह अपने आपको झाककर 'गुड्डी' को बचा लेने वाला 'बाप' उसके भीतर कहां से फूटकर बाहर निकल आया है ? और इस समय तो ऐसा लगता है जैसे वह क्षणों और टुकड़ों में नहीं, अपने पोर पोर में, अपनी संपूर्णता में मुकम्मिल बाप है। हो सकता है इस क्षण को पार करके वह बच जाए, किसी तरह इसे बचा ले सब कुछ पहले जैसा शांत और व्यवस्थित हो जाए यहीं से पत्नी भी सुरक्षित आ मिले और सारा जीवन पहले की तरह चल निकले। तब क्या वह फिर से अपनी उसी दुनिया में नहीं लौट जाएगा ? वही जीने और जीविका की समस्या वही दोस्तों और दल की राजनीति, वही सुबह से शाम तक की भागदौड़, वही रात देर देर से आना शायद

उन सब मे उलझकर दिन के चौबीस घंटो मे उसे कभी खयाल भी नहीं आएगा कि वह 'बाप भी है, उसकी एक बच्ची भी है। है तो है, उसके लिए क्या चौबीस घंटे गले मे तख्ती लटकाकर घूमता रहे ? यह सही है कि इन भीषण क्षणो से गुजरकर वैसी लापरवाही तो वह नहीं दिखा पाएगा, लेकिन इस क्षण, काश वह औरत देखती कि कैसे मैं अपने रेशे रेशे से 'बाप हूं ! उसे अपने पर गर्व हुआ और न जाने किन अदृश्य लोगो को सम्बोधित करके उसने कहा—मधो ! चौबीस घंटे अपने को बाप बाप कहना, बच्चो से खिलवाड करके अपने को ताजा कर लेना—तुम्हारा अपना अहकार और स्वार्थ है ! जब तुम बच्चो के प्रथम आने पर इनाम जीतने पर लोगो को चकित कर देने वाली प्रतिभा या कला पर फूलकर उनके साथ तस्वीरें खिचवाते हो उस समय तुम 'बाप' बिल्कुल नहीं होते। बाप का गौरव भोगते उस समय निहायत स्वार्थी और दभी व्यक्ति होते हो और बच्चे का 'कमाल' तुम्हारे इस दभ को सीचने का बहाना होता है ! वह सिर्फ खाद होता है जिसे खाकर तुम पौधे की तरह इठलाते हो। उस समय तुम बच्चे पर गर्व नहीं करते—तुम्हे सामाजिक प्रतिष्ठा देने का एक जीवित माध्यम तुम्हारे अपने पास है इसपर गर्व करते हो मूर्खो आदमी बाप जिन्दगी के सिर्फ ऐसे ही कुछ क्षणो मे होता है—सम्पूर्ण और अखडित ठीक उन्ही क्षणो मे जब औरो के लिए वह बिल्कुल 'बाप' नहीं होता

लेकिन बिना किसी द्वद्व, शका या दुविधा से क्या ठीक ऐसा ही उसके साथ नहीं हुआ है ? क्या उसके मन मे इस स्थिति से बचने की बात नहीं आई थी ? जब पागलो की तरह साइरन चीखा था और माहौल मे जैसे हजारो घटे घड़ियाल बजने लगे थे, विराट चक्की चलने का शोर चारो तरफ गूंजने लगा था—उस समय उसने क्या एकदम वैसा ही व्यवहार किया था जैसा इस क्षण सोच रहा है ? तब क्या वह बौखलाया सा, घबराया, छिपने की तलाश करता इस कमरे से उस कमरे मे नहीं भागा था ? और जब अचानक गोलियां चलने और गोलो के फटने के साथ लोगो की चीख पुकार रोने धोने की आवाजें आने लगी थी, तो क्या वह दौड़कर बड़े से पलग के नीचे ठीक वैसा ही औधा नहीं जा लेटा था, जैसा कि

बताया गया था—घुटनियों के बल थोड़ा सा उठा हुआ, कानों में उंगली दिए हुए ? इस बीच एक क्षण भी 'गुड्डी' का ख़याल आया ? वह तो बाद में, बहुत बाद, जब उसने अपने आपको सुरक्षित होने का आश्वासन दे लिया, तो झटके से चौंका अरे गुड्डी ? तब भी क्या पहली बार यही नहीं सोचा था कि आदमी में जीने की, बचाव की आदिम इच्छा बहुत प्रबल होती है, वह जरूर कहीं न कहीं आड़ की जगह चली गई होगी। जब यह सब गुज़र जाएगा तो उसे कहीं न कहीं से जरूर खोज निकालूंगा। इस समय अपनी जगह छोड़कर बाहर निकलना खतरनाक है। मगर फिर उससे वहां लेटे नहीं रहा गया था और वह फटे भर्राये गले से 'गुड्डी' पुकारता इस तरह भागा था जैसे जलते घर में भागते हों बक्सों के पीछे गुड्डी दबी दुबकी बैठी थी। उसने सहमे, भयभीत ख़रगोश जैसी उस चीज़ को उठा लिया था और फिर वापस अपनी जगह आ लेटा था, अपने को उसपर बिछाए हुए—लेकिन बोझ सम्भाले, तब उसे उसकी मां का ख़याल आया था, पता नहीं कम्बख़्त कहां चली गई है ! अब याद ही नहीं आ रहा, क्या कहकर गई थी, उस उल्लू की पट्ठी को नहीं पता था क्या, कि बाहर की हालात क्या है ? काश, इस समय वह भागती हांफती कहीं से प्रकट हो जाए तो उसे उसकी अमानत सौंपकर जान छुड़ाए इस वक्त बाप' वह ज़रूर है, लेकिन गुड्डी को सौंपना तो उसे ही है यह अमानत उसकी है—सारे लगाव भय, परेशानी और चिंता के बावजूद वह इस बात को एक क्षण नहीं भूल पाया था। हर क्षण लगता था कि किसी भी पल वह आ सकती है झुंझलाहट भी होती थी कि क्या झंझट छोड़ गई है मेरे लिए !

फिर तभी रोशनदान, कांच की खिड़कियां, किवाड़ ज़ोर से धमाकों से हिलने और भड़भड़ाने लगे थे, चारों तरफ कांच के टुकड़े उछलने लगे थे। छत और दीवारों के टुकड़े, धूल और धुआं, सीमेंट के ढोके धड़ धड़ बरसने लगे थे। और अचानक चारों तरफ अंधेरा सा छा गया था। अभी तक उसके भीतर एक विश्वास पल रहा था आसपास की बिल्डिंगों और मकानों पर हमले हो सकते हैं, बम और गोलियों की जद में सब कुछ आ सकता है लेकिन उसका अपना घर अछूता रहेगा लेकिन अब कहीं

उसके भीतर के चौकन्ने पशु ने सूंघ लिया था यहां से जितनी जल्दी हो सके भाग निकलो घिर जाओगे, निकलने का कोई रास्ता नहीं रहेगा, यही क्षण है, सब कुछ तोड़ो और भागो ! बाहर सिर्फ एक हमला होता है, अगर वह आपकी अपनी किलेबंदी को तोड़ देता है तो आपके बचाव की अपनी सारी चीजें एक एक करके आपके ऊपर हमला करना शुरू कर देती हैं, दुश्मन को दूर रखने वाले सारे तरीके आपको खुद घोटकर मार डालने को आपके सामने आ खड़े होते हैं । अपनों से आप बचकर कहां जाएंगे ? वह फुर्ती से, आहिस्ता सरककर बाहर आया, चुपके से खींचकर पलंग पर पड़ा कंबल उठाया, जल्दी जल्दी उसमें बंडल की तरह 'गुड्डी' को लपेटा और फिर बगटुट भागा—बाहर और बाहर निकलने से पहले ही वह चौखट गिरी थी, जिसे उसने दोनों बांहें उठाकर कंधों पर झेलने की कोशिश की थी तब जैसे बेबस भाव से, बंडल उसके हाथों से सरककर नीचे जा गिरा था उसके दोनों हाथ लूज की तरह झूल आए थे। लगा कि अब जिन्दगी भर कभी कोई चीज नहीं उठा पाएगा। पहली बार तो कई क्षण अंधेरी आंखों के आगे तारे नाचने लगे थे और खड़े रहना मुश्किल हो गया था फिर पता नहीं कैसे उसने झूलते हाथों को साधकर बंडल संभाला था। अचानक तब उसके भीतर एक नया आदमी उठ खड़ा हुआ था जो 'गुड्डी' का बाप' था !

अब तो लगता है वह काफी सुरक्षित जगह आ गया है ! अंगारों में दहकता, भट्टी सा नरक कहीं पीछे छोड़ आया है वह खेत, वह पगडंडी और फिर वह झाड़ियों का झुरमुट फिर शायद कोई खतरा नहीं रहेगा। वहीं बैठकर वह सुस्ताएगा तब फिर इस सारे भयानक दृश्य को दुबारा जिएगा—अभी तो सिर्फ वहां तक भागना है जैसे भी हो

लेकिन इसका क्या यकीन कि वहां पहले से कोई खतरा उसकी ताक में नहीं बैठा ? सैकड़ों बार टूटकर, धोखा खाकर भी क्या ऐसे विश्वास फिर फिर मन में सिर उठाते हैं ? क्या इसी भ्रम में वह अब तक मौत के जाल में फंसे एक चूहे की तरह इधर से उधर नहीं भागता फिरा है ? क्या

अभी भी ऐसा नहीं महसूस होता जैसे सुरंगों की एक भूल भुलैया के बीचो बीच वह दिग्भ्रांत सा खड़ा है, बाहर निकलने की पागल उत्तेजना में कभी वह एक सुरंग में भागता है और आगे जाकर पाता है कि वहां रास्ता बन्द है फिर वापस लौटता है, और दूसरी में दौड़ लगाता है जहां सुरंग बन्द होती है, वहां उसे भयानक बदबू आती है, जैसे कुछ लोग वहां पहले भी पहुंच होंगे और हताश होकर वहीं दम तोड़ बैठे होंगे सड़ी हुई लाशों की बदबू दूर तक उसका पीछा करती है मैं भी शायद यहीं पस्त होकर लाशों के ढेर में एक हो जाता मेरी बदबू भी शायद इसी तरह निवास के रास्ते की खोज में भटकने वालों के पीछे फैले हुए नागपाश-सी लपकती अगर मेरे पास मेरे पास यह 'गुट्टी' न होती

जरूर इन लोगों के पास बचाने के लिए कुछ न रहा होगा हो सकता है ये भी गुट्टी जैसा कुछ न कुछ लेकर घर से भागे हों, और रास्ते में हारकर इधर उधर उसे फेंक दिया हो—नतीजे में उनकी सारी जीवनी शक्ति इकहरी रह गई हो तभी तो चुक गई। लेकिन आखिर, मैं भी इस या अपने को बचाकर क्या कर लूंगा ? जिंदा रहकर ही क्या होना है ? लाखों करोड़ों लोगों में एक 'गुट्टी', या एक मैं—रहे, न रहे फर्क पड़ा है ! अपने आपको या गुट्टी' को संसार की सबसे कीमती चीज मानकर बचाए रखने के मोह से छुटकारा पाना ही, इस यातना से बच निकलना है। इस वहम ने उसे शक्ति दी हो या न दी हो लेकिन भीतर से कमजोर जरूर बना दिया है। जैसे अभी ही उसके भीतर प्रार्थना जैसी कुछ गूंजने लगी थी हे भगवान तुम्हें मैंने कभी नहीं माना, आज सच्चे मन से प्रार्थना करता हूं, इसे बचा लो ! इसे सुरक्षित कहीं पहुंचा दो अगर इस बार यह चमत्कार हो गया तो सारी जिन्दगी भगवान का विश्राम फैलाने में लगा दूंगा वह है जरूर है, उसने मेरी 'गुट्टी' को बचाया है या अगर मैंने इस खेत को किसी तरह पार कर लिया तो मान लूंगा कि मेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता उस झाड़ी का आकार दूर से बिल्कुल मंदिर के कलश जैसा दिखता है

उसे सचमुच लगता रहा है जैसे वह हर सड़क पर दौड़कर उसी एक चौराहे पर निकल आता है। क्या सारे समय वह इसी चौराहे के आस-

पास घूमता रहा है घूमता रहेगा ? क्या उसकी यह सारी दौड सिर्फ एक दायरे मे घूमने की दौड है ? कभी खतरे के बिंदु से बहुत दूर और बाहर निकल आने का भ्रम, और फिर अचानक अपने को उसके बीचा-बीच पाना कही ऐसा तो नही है कि वह इससे बाहर निकलना ही नही चाहता ? किसी खतर और हमले के भय से भागते रहना, यही उसकी आदत ही तो नही बन गई है ? बाहर निकल आएगा तो चूर चूर होकर गिर पडने के सिवा रास्ता ही क्या बचेगा ? और गिरना वह नही चाहता, इसलिए जान-बूझकर खतरे के आसपास बने रहकर अपने को चाबुक मार मारकर भगा रहा है—लेकिन कब तक ? टूटकर वह जान का बिंदु जब तक स्थगित हो सके फिर गिरना तो है ही—सास कब तक साथ देगी ? क्या जी, ठीक इसी क्षण और भी तो कुछ लोग ठीक इसी तरह अपना कुछ 'कीमती' बचाने के लिए भाग रहे होगे इसीकी तरह खतरे और मौत के साथ चूहे बिल्ली की मजबूरी का खेल खेल रहे होगे ? काश, उनमे से कुछ मिल जाते तो अकेले पड जाने की यह घुटन तो नही होती जरूर ऐसे लोग उसे मिले होगे, लेकिन निगाह टिका-कर उन्हे पहचानने की फुरसत उसके पास कब थी ? उसे तो हर भागता हुआ आदमी 'दुश्मन' लगता था, हो सकता है औरो को खुद वह 'दुश्मन' लगा हो। जरा किसीको रोककर पूछ ही लेता लेकिन अनजान आदमी को एक दूसरे पर विश्वास कैसे होता ? फिर अपनी कीमती चीज, उसे बचाने की कमजोरी किसीको बताई भी तो नही जाती—झपटकर छीन ही ले तो ? मगर क्या उनके दिमाग मे भी यह बात नही आती कि हम सारे भागे और खदडे हुए लोग मिलकर एक दूसरे की हिम्मत ही नही बधाते, शायद अपनी अपनी कीमती चीजो को बचाने के लिए एक मोर्चा भी बना सकते हैं सवाल यही है कि पहल कौन करे ? अकेला आदमी कब तक अपनी भीतरी शक्ति को निचोड निचोडकर अपने को घसीटता रहेगा ?

उसने कभी एक पोलिश फिल्म देखी थी। उसका एक दृश्य दिमाग पर इस तरह खुद गया है कि न चाहने पर भी बार बार समय असमय उभरकर उसे डरा देता है कुछ लोगो ने सत्ता के खिलाफ विद्रोह किया

था। उन्हें पकडकर एक अकेले किले मे यातनाए दी जाती थी। यातना का यह तरीका कितना भयानक था कदियो को छत पर बैठा दिया गया। खुले मदान मे सिपाहियो की दो लाइनें आमने-सामन खडी हो गइ—बीच मे गली सी छोडकर पच्चीस इधर, पच्चीस उधर। हरेक के हाथ मे कोडे। इस गली के दोनो सिरो पर मुगले बन्द करते हुए दो सिपाही, बीच म एक अठारह उनीस साल की एक 'विद्रोही' लडकी एकदम नगी छोड दी गई। हर सिपाही उसे कोडा मारता था, वह बिल बिलाकर आगे भागती थी—और फिर कोडा पडना था फिर भागना सिपाही फिर उसके बाद वाला सिरे वाला सिपाही उसे धक्का दकर फिर वापस मोड देना। दोना ओर लगातार कोडे खाकर, चीखती, हाफती, कराहती वह जिस तरह इस सिर से उस सिरे तक भागती थी वह दश्य पता नही क्यो उसके दिमाग से निकलता ही नही है बहुत बार वह लडखडा कर गिरती उस फिर खडा कर दिया जाना। दौडा दौडाकर उसे हान चूर चूर कर दिया था और हर क्षण लगता था कि वह अब गिरी, अब गिरी। इस बार नही उठ पाएगी। आखिर वह गिर ही पडी और फिर कोडा या ठोकर' के बावजूद उठी ही नही। ऊपर स देखते कदियो मे कुछ उस दश्य को देखकर पागल हो गए कुछ ने यहा से छलाग लगाकर आत्महत्या कर ली खद जब यह दश्य उसके सामने आता है नाभि से उठकर क करने जसी अनुभूति उसे होने लगती ह। बार बार समझाता है कि वह सिफ सिनेमा का एक दश्य था और वे सभी लोग अभिनेता थे। लेकिन इससे उस दश्य के आतक मे कही कोइ अन्तर नही पडता। इस क्षण वह यातना भोगती हुई लडकी कौन है? वह खुद? बडल मे लिपटी 'गुड्डी? इस समय इन सारी बातो को छाटने का मौका कहा है? सब कुछ तो गड्मड हो गया है। इस समय तो सच्चाई सिफ इतनी है कि कही धुधलके मे एक लडकी है और उसे कोडे खाते हुए दौडना है इस सिरे मे उस सिरे तक। वह जानती है कि यह दौड उसे कही नहीं ले जाएगी, उसे तो जब तक सास लेन की सभावना है या जब तक होश है, तब तक सिफ कोडे खाना है और दौडना है—जब तक बिल्कुल चूर चूर होकर ढेर नही हो जानी झाडियो के उस झुरमुट तक तो उसे पहुचना ही है ।

क्या जी, आदमी के मन में यह उम्मीद नाम की चीज़ क्या है? क्यों नहीं यह एक दो बार टूटकर ही समाप्त हो जाती? क्या हमेशा कहीं कुछ बचा रहता है और ज़रा-सा बहाना पाकर इस तरह सारे सोच पर छा जाता है? यही नहीं, आपके सारे क्रिया-कलाप, हरकतें वही तय करने लगता है? अब वह अच्छी तरह जानता है कि वहां झाड़ी में कुछ नहीं है। हर आड़ और बचाव ने उसे इसी तरह के झूठे आश्वासन देकर दौड़ाया है। अक्सर वहां पहुंचकर उसने देखा है कि दूर से जो जगह बहुत सुरक्षित लगती है पास पहुंचकर बिल्कुल वैसा नहीं होता। पहुंचकर पाता है कि यहां तो घिर जाने या पकड़ लिए जाने के और भी ज्यादा खतरे हैं। तब, इस दायरे में घूमते रहने का अर्थ क्या है? इस निरर्थक और लक्ष्यहीन दौड़ को यहीं खत्म कर देने से उसे रोके हुए कौन है? मान लो, वह यह ठान ले कि कहीं कोई 'गुड्डी' नहीं है कहीं वह खुद नहीं है, उसे कोई भय नहीं है। जब खतरा ही नहीं है, तो उसे बचाने की भावना या कहीं पहुंच जाने की दौड़ भी नहीं है। आस-पास कहीं कुछ नहीं हो रहा। मेरे साथ कुछ भी नहीं हुआ है मैं किसी भी स्थिति से नहीं गुज़रा। मेरा कोई कुछ भी बना बिगाड़ नहीं सकता, इसलिए मुझे भी कुछ नहीं करना। मान ही लो, वह ऐसा तय करके यहां बैठ भी जाए, खुले में, तो क्या फर्क पड़ेगा? अपने सोचने की ही तो बात है वर्ना तो सचमुच कहीं क्या फर्क पड़ता है? आदमी सोच लेता है इसीलिए समय, स्थान और चीज़ों से जुड़ जाता है। यानी समय, स्थान चीज़ें उससे नहीं जुड़ती—वह अपने आपको उनसे जोड़े होने का भ्रम पालता है। मान लो, वह इसी क्षण तय कर ले कि न उसका कोई अतीत है न भविष्य, न वर्तमान—न वह कहीं से भागकर आया है, न उसे कहां भागना है—घर 'गुड्डी', यह झाड़ी इस सबसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है—तो? मैं सिर्फ एक बात कहता हूं, अगर सोच ले तो वहां क्या बदल जाएगा? क्या वह उतना ही निश्चिन्त नहीं हो जाएगा जितनी ये और चीज़ें? मैं इसीलिए तो इन सबसे बंधा, या जुड़ा हूं कि ऐसा सोचता हूं अपने आपको उन सबसे जुड़ा हुआ मानता हूं। मेरे भीतर की सारी प्रतिक्रियाएं इस जुड़े होने के तनाव से ही पैदा होती हैं। लड़की को इस

तरह कोड़े मार मारकर दौड़ाना तो वास्तव में एक रूपक है। सोच को खींचकर अपने को वापस लाने का निर्णय कर लो, तो कोई भी आपका क्या कर सकता है? एक बार अपने को वापस खींचकर इस स्थिति को देखने में हर्ज ही क्या है? सुनते हैं, योगी लोग इसी तरह अपने आपको सबसे तोड़कर अपने आपको खींच लेते हैं और मुक्त हो जाते हैं। न उन्हें धूप लगती है न ठंड, भूख प्यास भी शायद महसूस नहीं होती। वे कांटों की सेज पर भी उसी आराम में सोते हैं, जैसे गद्दे पर। सिर्फ अपने मन को मोड़ने भर की बात है... मगर सिर्फ इस तरह की कल्पना करना अच्छा लगता है, ऐसा हो कहां पाता है? इसे कहीं सुरक्षित जगह पहुंचा देने की इच्छा को क्या वह एक पल भी मन से निकाल पाया है। हां, कभी कभी बीच-बीच में उसे एक अजीब सी बात जरूर महसूस होती है. लगता है जैसे 'गुड्डी', उसका अपना शरीर, पता नहीं कब के छूट चुके हैं. उसके हाड़ मांस इसके साथ नहीं हैं. वह सिर्फ एक हवा है, भागते रहने की एक इच्छा है—अशरीरी और निराकार. इसी को शायद लोग 'प्रेत' कहते हैं—एक अतृप्त आकांक्षा.

और इस विचार से घबराकर जैसे वह खुद ब-खुद ठिठक गया—कहीं सचमुच ही तो ऐसा नहीं कि किसी बम, किसी संगीन या किसी भारी चीज की मार से उसका शरीर पहले ही छूट चुका हो, और वह सिर्फ एक अशरीरी आकांक्षा बनकर भागा चला जा रहा हो? या जिसे वह 'गुड्डी' समझकर छाती में समेटे है, वह केवल 'गुड्डी' के होने का एहसास ही हो? इस तरह की आकस्मिक मृत्यु वाले लोग कब शरीर छोड़कर इस अशरीरी दुनिया में पहुंच जाते हैं, शायद खुद भी नहीं जानते! भयंकर आशंका से उसने सामने बंधी 'गुड्डी' को छूकर-दबाकर देखा, फटकर तार तार हो गए अपने कपड़ों को टटोला, अभी अभी लगे घुटने के घाव से निकले खून की चिपचिपाहट महसूस की... लेकिन इससे सिद्ध कहां होता है कि यह शरीर होने के पुराने अभ्यास की भावना नहीं, साक्षात शरीर है? तभी, तभी... उसने जैसे हताश होकर अपने आपसे कहा, तभी तो वह 'बचता' चला आ रहा है! दरअसल जिसे वह 'बचना' समझ रहा है, वह उसका 'न होना' ही है... किसीको वह दीखता ही नहीं होगा।

वह अपने आपको जो चाहे समझे, किसी और को क्या पता कि सामने ही एक 'अशरीरी आकांक्षा' भी भटक रही है। जरूर यही बात है यह बात न होती तो कैसे वह उस भूकंप और तूफान से गुजर आया होता अब? अब क्या हो? अचानक ही उसे बहुत बेचैनी होने लगी कि कैसे वह अपने होने को प्रमाणित करे? कम से कम खुद को तो पता चलना चाहिए कि आप हैं भी या नहीं? अगर नहीं हैं, तो इस भागदौड़ से कोई फायदा? फिर आपका कोई क्या बिगाड़ सकता है? तब तो किसी हमले, किसी चोट का कोई डर ही नहीं है। सचमुच यह स्थिति कैसी मजेदार है कि हमला करने वाले संगीनें, बंदूकें, छुरे, तलवारें लिए आपके सामने खड़े हैं और आप निडर होकर उनके सामने घूम रहे हैं उन्हें मुंह चिढ़ा रहे हैं और हंस रहे हैं। क्योंकि उनके लिए आप हैं ही नहीं—सिर्फ एक पारदर्शी हवा है, जिसके आर-पार सब कुछ देखा जा सकता है। और क्यों जी, अगर आप हैं और यह समझकर उनके सामने पहुंच जाते हैं कि 'हैं ही नहीं' तो? लेकिन यह तय कैसे हो कि आप हैं या नहीं? नहीं, यह खुद तय नहीं हो सकता किसीके सामने पहुंचकर, किसीको छूकर, (यानी फिर दूसरों से जुड़कर?) या किसीसे बात करके ही यह तय होगा लेकिन ऐसा कोई भी तो नहीं दीखता, जिससे 'बात' की जा सके, जिसके सामने जाकर खड़े हुआ जा सके और उसकी प्रतिक्रियाओं से जांचा जा सके कि हां, आप हैं। और उसने पलटकर हमला कर दिया तो ? या उसके पास घातक हथियार हुआ तो? अभी तो सिर्फ शक है, फिर तो सचमुच शरीर छोड़ने की नौबत आ जाएगी बड़ी मुसीबत है, करूं क्या। बौखलाकर उसने लगातार 'गुड्डी' को आवाजें दीं गुड्डी, गुड्डा जागो बेटा, देखो, अम्मा आ गई और जब अपनी आवाज खुद कानों में पहुंची, तो चौंककर चुप हो गया इस तरह आवाजें देकर खुद खतरे को क्यों बुला रहा है? उसने दांत पीसे अम्मा पता नहीं साली कहां जा मरी मेरी जान को यह मुसीबत छोड़कर अब मैं न भाग सकता हूं, न छोड़ सकता हूं, न आसानी से मर सकता हूं, और तो और इसके सिवा और कुछ सोच भी तो नहीं पाता। और वह फिर घिसट-घिसटकर भागने लगा साथ ही उसे यह भी लगता रहा जैसे वह किसी

हैलिकाप्टर में बैठा है नीचे इस भुनगे जैसी चीज को तटस्थ भाव से भागते और घिसटते 'देख' रहा है पूरा न सही, उसका कोई हिस्सा जरूर 'प्रेत' हो गया है, वरना वह इस तरह 'तटस्थ ऊंचाई' से अपने इस छटपटाते 'व्यक्ति' को ऐसे साफ-साफ देख कैसे लेता ?

उसने दोनो मुट्ठियों मे रेत लेकर अपने मुह, गरदन और बाहों पर मली—एक तो घावों, खरोंचो और चोटों मे इससे आराम मिलता है, पसीना यह बहकर गले या पिंडलियों म चींटी रेंगने जैसी अनुभूति नहीं देता—और सबसे बड़ी बात, आपका कोई पहचान नहीं सकता अगर अपने आपको शीशे में देखूं तो आंखो के दो सूराखो वाला मिट्टी का बुत लगूं। यह सोचकर उसे कहीं हल्का-सा आश्वासन मिला कि अब शायद कोई विशेष रूप से 'उसे' पहचान नहीं पाएगा। हू, इतना ही जानेगा कि कोई है—पता नहीं शत्रु या मित्र पूरी रोशनी न हो तो शायद मिट्टी का ढेर या मेड़ जैसी ही कोई चीज समझे। उसने अपने आपसे कहा, हो सकता है प्रेत की तरह एकदम 'अशरीरी' या अदृश्य न हुआ होऊं, लेकिन 'मेरी अपनी पहचान' तो निश्चय ही अब नहीं रह गई—कीचड़ में लथपथ कोई भी एक आदमी! सचमुच, गौर से देखने पर भी कोई आदमी उसे नहीं पहचान पाएगा ? बहुत बहुत मन हुआ कि शीशा होता तो देखता कैसा लगता है या 'गुड्डी' ही होश में होती तो उसकी प्रतिक्रिया देखकर वह तय कर लेता कि उसकी 'पहचान' बाकी है या नहीं ? हां, आवाज से शायद पकड़ लेती, उसने गला खखारकर आवाज निकालने की कोशिश की—सपाट और व्यक्तित्वहीन ? अपनी इस कोशिश पर खुद उसे हंसी आई। आदमी का बाहरी रूप रंग, कैसे उसकी चाल, ढाल, व्यवहार और बोली को तय कर देता है! आप एक बार यह मान लीजिए कि आप, आप नहीं—दुष्यन्त हैं सिद्धार्थ हैं—आपका सारा रंग ढंग, बोली-लहजा यहां तक कि सोचना तक वैसा ही हो जाएगा! इस क्षण वह एक 'बे पहचान' आदमी का रूप बनाए है, इसलिए उसका सारा व्यवहार वैसा होने लगा है। कल मान लो वह बंदर या भालू का वेश बना ले तो क्या ठीक है, वैसा ही व्यवहार नहीं करने लगेगा! उसी तरह चलने या गले से आवाजें निकालने लगेगा लेकिन

उसे सचमुच पहचानता कौन है ? बाप, भाई, पति दोस्त, या एक शहरी आदमी क्या अलग अलग लोगो के सामने उसके अलग अलग रूप नही हैं ? अच्छा या बुरा, सब लोग उसे उतना ही तो पहचानते हैं, जितने से उनका सम्बन्ध है। इस क्षण जान बचाकर, सिर छुपाकर भागता हुआ एक आदमी इन सबमे 'वह' खुद कहा है ? इन सबसे हटकर क्या आदमी की अपनी कोई ऐसी 'पहचान' होती है जो कि सिफ उसकी 'अपनी' होती है, और किसी दूसरे की नही होती ? अगर वह पकडा जाए तो लोग किसीके 'बाप', किसीके पति, किसी दफ्तर मे नौकर, किसीके भाई, किसी शहर, मोहल्ले या मकान के 'रहने वाले' को ही मारेंगे—'उसे' कहा पहचान पाएगे मारने से पहले या बाद ?—इन सारे 'नामो' के लबादो' के नीचे वह तो अभी तक एक गुमनाम व्यक्ति ही रहकर मर जाएगा। शायद कही कुछ कीमती बचाने के लिए, यू भागते हुए गोली या भाला खाकर मर जाना इतनी बडी ट्रेजेडी नही है जितनी बडी ट्रेजेडी यह है कि आप मर जाए और कोई जान ही न पाए कि जो मारा गया है वह है कौन ? खुद आपको यह बताने का मौका ही न मिले बाद म रह जाए सिफ एक लावारिस, गुमनाम, बेपहचान लाश

इस क्षण एक भयानक सत्राम के साथ उसे महसूस हुआ कि वह सिफ सामने वाली झाडी की ही तरफ नही भाग रहा पीछे खून की होली खेलते, लूटते, चीखते, चिल्लाते लोगो की तरफ भी भाग रहा है। उसकी यह सारी दौड, अपनी पहचान खोकर अदृश्य, अशरीरी और आस-पास की हवा पानी जैसी चीज बनकर अपने को 'खो देने' की ही दौड नही है, बल्कि अपने को 'पहचाने' जाने की, अपनी इस पहचान को स्थापित करने की—युद्धक्षेत्र मे जाकर अपने होने की, सूचना देने की भी दौड है चाहे इसे पहचाने जाने के एकदम बाद ही उसे क्यो न मर जाना पडे—इस कीमत पर भी। उस क्षण सचमुच बेहद शिद्दत से उसे महसूस हुआ कि यह दौड इकहरी नही, हर पल दुहरी रही है—एक साथ दो धरातलो पर रही है और तब वह किसी भी तरह तय नही कर पाया कि वह मौत से बचकर भागता रहा है या मौत की तरफ भागता रहा है वह 'गुमनामियत' की तरफ भाग रहा है या अपनी 'पहचान'

स्वरों और शोरों में आ रही हैं। पता नहीं, कब और कैसे यह, बैंगनी कालीन बिछी ऊंची-सी छत के एकदम किनारे पर जा बैठा है और नीचे खुले में होते समारोह को देख रहा है यहां टेरेस सिर्फ इतनी ऊंची है कि नीचे के लोग हाथ बढ़ाए तो वह छू सकता है वह उनकी सारी बातें, बहसें, कहकहे और मजाक सुन सकता है सबके हाथों में कोई प्लेट या गिलास है। शायद उन्हें पता भी नहीं है कि 'ऊपर' से उन्हें कोई देख रहा है। यह इतने किनारे बैठा है कि हर क्षण हाथों का सहारा देकर नीचे फिसलने से अपने आपको रोके हुए है। फिसलकर यह उनमें शामिल हो सकता है लेकिन यह वहीं रहना चाहता है, ऊपर उसे हर क्षण ख्याल है कि बाहर टैक्सी उसकी राह देख रही है। फिर कुछ बदलता है और गहरे चॉकलेट के रंग वाली साड़ी पहने एक औरत के साथ वही खुली छत के किनारे पर वह अपने को सम्भोग करते हुए देखता है औरत का चेहरा नहीं दीखता, हां, खुशबू की लपट उसके नथुनों तक आती महसूस होती है। यह बात उसे काफी मजेदार लगती है कि नीचे लोग हंस-खा रहे हैं, और उनसे हाथ भर की ऊंचाई पर ही यह ऐसी निश्चितता से औरत को भोग रहा है और इस बात का किसीको आभास भी नहीं है फिर भी सावधानी के तौर पर दोनों ने अपने शरीर से कोई भी कपड़ा नहीं उतारा है छत के किनारे से फिसलकर वह नीचे गिरने-गिरने को होता है कि उसकी आंख खुल जाती है जिस रात उसने यह सपना देखा था, तब भी सोचता रहा था कि इसका क्या अर्थ है, इसमें मन के भीतर की क्या चीज अभिव्यक्त होती है? लेकिन इस समय तो उसे बेहद खीझ और झुंझलाहट हो रही थी कोई मौका है इस सपने के याद आने का? और देखो, न सिर्फ याद आ रहा है बल्कि एक एक रंग कितना साफ और चमकीला होकर दीख रहा है जैसे रंगीन फिल्म का कोई दृश्य हो वह औरत कौन हो सकती है? 'गुड्डी' की मां तो नहीं थी, उसके हाथ, कोमल पकड़, चुंबन सभी कुछ याद है—सिर्फ चेहरा सामने नहीं आता अगर बच गया तो जरूर किसी मनोविज्ञान-वेत्ता से इसका अर्थ पूछेगा ताज्जुब की बात है, इस सारे समारोह या सपने में न कहीं 'गुड्डी' है, न 'गुड्डी' की मां

गुड्डी की मा होगी वहा इस समय ? लगता है जसे कहीं बहुत-बहुत दूर चली गई है और शायद कभी वापस लौटकर नहीं आएगी लेकिन इस 'बला' का मैं क्या कर ? 'पापा, देखिए, हमने आपके नल पालिश लगाई, आप सो रहे थे, आपको तो पता भी नही ' यह वाक्य इस समय वहा से उछलकर आ गया ? 'हम पापा को दूध पिलाएग ' और फिर पापा की तस्वीर के मुह मे दूध की बोतल लगाना—क्यो ये सब उसे इस बेमौके याद आ रहा है ? अरे कमबख्त, यह समय इन सबम 'डूबने' का नही, इस सबको भविष्य के लिए बचा लेन का है अधेरी सुरग के दूसरे सिरे पर दीखती रोशनी तक भाग लेने का है भागो-भागो खूखार और खौफनाक, भूखे भेडिया की लपलपाती जीभो और गुर्राती आखो वाले इस चारा तरफ से दबोचते अधेरे के पार निकल जाओ जैसे भी हो, अपने लिए नही, इसके लिए'

मगर जरा सा खबर बार-बार उभरते मन के इस सन्देह को मिटा क्यो नही लेता ? वहा पहुचकर बडल मे मरी हुई गुड्डी को पाने के धक्के से अभी ही छुटकारा क्या नही पा लेता ? इस समय उसम सब कुछ बदाश्त कर लेने की ताकत है अगर मर ही गई है तो एक तरफ फॅक फाककर इस बचाव की लडाई से छुट्टी पाओ फिर तुम भी एक बन्दूक, एक भाला एक तलवार या कोई भी चीज उठाकर इन हमलावरा मे शामिल नही हो सकते ? सचमुच उस लगा कि उस गुड्डी के नाम पर वह अपने भीतर की कायरता को कब तक पालता रहेगा ? य खून के प्यासे, जल्लादा जैसे दीखने वाले हमलावर भी तो भीतर से डरे हुए अपनी ही कायरता के दम से खाए हुए उस जैसे लोग हैं ! यह भी अधा-धुध गोलिया चलाए, लूट पाट मचाए और जो सामने आए, उसपर सगीन लेकर झपट पडे उन्हे तो शायद पता भी नही चलेगा कि कब उनम एक और आदमी आ शामिल हुआ है। इस डर और खतरे से बचने का सिफ एक ही उपाय है। तब वह खुद औरो के लिए एक खतरा हो जाएगा अपने जसे कमजोर, मुलायम और डरे हुए लोगो को दौडा-दौडाकर मारने वाला एक आतक सिफ बच-बचकर भागत, अपने को इस उस आड मे छिपात लोगो को इस माहौल मे कोई जगह नही है

और अगर उसे यही जीवन जीना है तो किसी गिरती छत, किसी गोली, किसी सगीन या किसी उडते पत्थर-भाले का निशाना बनकर मर ही जाना चाहिए मर भी गया तो दुनिया मे कहा क्या रुक जाएगा ' ?

नही, नही, गुड्डी का कहना झूठ है। वह अच्छी तरह जानता है कि गुड्डी बेहोश नही है मर गई है। वह तभी मर गई थी, जब अपने घर की ही चौखट उसपर गिरी थी—भरपूर और बेरहम

इस भागदौड के बावजूद क्या उसे एक क्षण का भी समय नही मिला कि वह कबल खोलकर देख लेता उसकी सास को महसूस करके समझ लेता कि उसमे कुछ बचा भी है या नही ! लेकिन नही, उसने जान-बूझकर ऐसा नही किया वरना हो सकता है, इतनी देर से अपने बचाव की इस दौड का सारा भ्रम इस कायरता की सारी गरिमा चूर चूर हो जाती। जिन बातो और जिन भावनाओ को भीतर जगा-जगाकर वह अपने आपको दौडाए जा रहा है, वे सब कहा स आती ? फिर तो निश्चय ही हो जाता कि वह लाश को लिए लिए भाग रहा है। और तब इसे फेंकने के सिवा कोई रास्ता नही रहता या कहना चाहिए, निर्णय लेने की अनिवार्य मजबूरी से बच निकलना असम्भव हो जाता उसकी यह सारी दौड किसी भी निर्णय स बचते जाने की दौड के सिवा और क्या है ? तब हो सकता है कि उसे हमलावरो मे शामिल हो जाने का ही निर्णय ले लेना पडता वह भी उछल उछलकर लोगो को मारता जरूरत-बेजरूरत की चीजें छीनता औरतो बच्चो के नाजुक शरीर मे घप सगीन घोपने का मजा लेता सुनते है निरकुश क्रूरता, और बे लगाम हिंसा का भी अपना एक नशा और आनन्द है, एक शब्दातीत थ्रिल है—अगर य सब न होता तो आदमी मे इतना जोश, यह उत्साह और शक्ति सामर्थ्य कहा से आते ? कम से कम एक बार हिंसा के इस सुख को जान लेने मे बुराई क्या है ?

अभी तक इन लोगो मे शामिल हो जाने की बात उसके मन मे क्या नही आई ? इतना तो उसे भी पता ही था कि उसके आसपास ही कुछ लोग ह जो चुपचाप इस तरह की ट्रेनिंग ले रहे हैं। कुछ स्थानो की सूचना भी उसके पास थी, जहा मारने, लूट लेने, आग लगाने या पीछा

गुड्डी की मा होगी कहा इस समय ? लगता है जैसे कही बहुत-बहुत दूर चली गई है और शायद कभी वापस लौटकर नही आएगी लेकिन इस 'बला' का मैं क्या करू ? 'पापा, देखिए, हमने आपके नेल-पालिश लगाई, आप सो रहे थे, आपको तो पता भी नही ' यह वाक्य इस समय कहा से उछलकर आ गया ? 'हम पापा को दूध पिलाएगे ' और फिर पापा की तस्वीर के मुह मे दूध की बोतल लगाना—क्यो ये सब उसे इस बेमौके याद आ रहा है ? अरे कमबख्त, यह समय इस सबमे 'डूबने का नही इस सबको भविष्य के लिए बचा लेने का है अधेरी सुरग के दूसरे सिरे पर दीखती रोशनी तक भाग लेने का है भागो-भागो खूखार और खौफनाक, भूखे भेडियो की लपलपाती जीभ और गुर्राती आखो वाले इस चारो तरफ से दबोचते अधेरे के पार निकल जाओ, जैसे भी हो, अपने लिए नही, इसके लिए

मगर जरा-सा रुककर, बार-बार उभरते मन के इस स देह को मिटा क्या नही लेता ? वहा पहुचकर बडल मे मरी हुई गुडडी को पाने के धक्के से अभी ही छुटकारा क्यो नही पा लेता ? इस समय उसमे सब कुछ बर्दाश्त कर लेने की ताकत है मगर मर ही गई है तो एक तरफ फेंक फाककर इस बचाव की लडाई से छुट्टी पाओ फिर तुम भी एक ब दूक, एक भाला एक तलवार या कोई भी चीज उठाकर इन हमलावरो मे शामिल नही हो सकते ? सचमुच उसे लगा कि उस गुड्डी के नाम पर वह अपने भीतर की कायरता को कब तक पालता रहेगा ? ये खून के प्यासे, जल्लादो जैसे दीखने वाले हमलावर भी तो भीतर से डरे हुए, अपनी ही कायरता के दम से खाए हुए उस जैसे लोग हैं। यह भी अधा-धुध गोलिया चलाए, लूट पाट मचाए और जो सामने आए, उसपर सगीन लेकर झपट पडे उन्हे तो शायद पता भी नही चलेगा कि कब उनमे एक और आदमी आ शामिल हुआ है। इस डर और खतरे से बचने का सिर्फ एक ही उपाय है। तब वह खुद औरो के लिए एक खतरा हो जाएगा अपने जैसे कमजोर, मुलायम और डरे हुए लोगो को दौडा दौडाकर मारने वाला एक आतक सिर्फ बच-बचकर भागते, अपने को इस उस आड मे छिपाते लोगो को इस माहौल मे कोई जगह नही है

ग्रौर ग्रगर उसे यही जीवन जीना है तो किसी गिरती छत, किसी गोली, किसी सगीन या किसी उडते पत्थर-भाले का निशाना बनकर मर ही जाना चाहिए मर भी गया तो दुनिया मे कहा क्या रुक जाएगा ?

नही, नही, गुड्डी का बहाना झूठ है। वह ग्रच्छी तरह जानता है कि गुड्डी बेहोश नही है, मर गई है। वह तभी मर गई थी, जब ग्रपने घर की ही चौखट उसपर गिरी थी—भरपूर ग्रौर बेरहम इस भागदौड के बावजूद क्या उसे एक क्षण का भी समय नही मिला कि वह कबल खोलकर देख लेता, उसकी सास को महसूस करके समझ लेता कि उसमे कुछ बचा भी है या नही ? लेकिन नही, उसने जान-बूझकर ऐसा नही किया वरना हो सकता है, इतनी देर से ग्रपने बचाव की इस दौड का सारा भ्रम, इस कायरता की सारी गरिमा चूर चूर हो जाती। जिन बातो ग्रौर जिन भावनाग्रों को भीतर जगा जगाकर वह ग्रपने ग्रापको दौडाए जा रहा है, वे सब कहा से ग्राती ? फिर तो निश्चय ही हो जाता कि वह लाश को लिए लिए भाग रहा है। ग्रौर तब इसे फेंकने के सिवा कोई रास्ता नही रहता या कहना चाहिए, निणय लेने की ग्रनिवाय मजबूरी से बच निकलना ग्रसम्भव हो जाता उसकी यह सारी दौड किसी भी निणय से बचते जाने की दौड के सिवा ग्रौर क्या है ? तब हो सकता है कि उसे हमलावरो म शामिल हो जान का ही निणय ले लेना पडता वह भी उछल उछलकर लोगो को मारता जरूरत-बेजरूरत की चीजें छीनता ग्रौरतो-बच्चों के नाजुक शरीर मे घप् सगीन घापने का मजा लेता सुनते हैं निरकुश क्रूरता, ग्रौर बे लगाम हिंसा का भी ग्रपना एक नशा ग्रौर ग्रानन्द है एक शब्दातीत थ्रिल है—ग्रगर य सब न होता तो ग्रादमी मे इतना जोश, यह उत्साह ग्रौर शक्ति सामथ्य कहा से ग्राते ? कम से कम एक बार हिंसा के इस सुख को जान लेने मे बुराई क्या है ?

ग्रभी तक इन लोगो मे शामिल हो जाने की बात उसके मन मे क्यों नही ग्राई ? इतना तो उसे भी पता ही था कि उसके ग्रासपास ही कुछ लोग हैं जो चुपचाप इस तरह की ट्रेनिंग ले रहे हैं। कुछ स्थानो की सूचना भी उसके पास थी, जहा मारने, लूट लेने, ग्राग लगाने या पीडा

करके दबोच लेने की शिक्षा दी जाती है। सुना था कि सबसे पहले व्यक्ति, देश, मानवता और जाने किस किसके भविष्य की सुरक्षा वाले बौद्धिक विमर्श होते हैं—व्यक्ति को मानसिक रूप से ऐसे सिद्धांत के आदर्श और लक्ष्य समझाए जाते हैं, जहां ये सारे काम गलत न लगें। व्यक्तिगत रूप से की गई हत्या आदमी की आत्मा पर बोझ बनी रहती है, सिद्धांत की और आदर्श के लिए की गई हत्या उसे आध्यात्मिक शक्ति देती है। दोनों तरफ से व्यक्ति को अपनी पहचान को निकाल देना होता है। न आप व्यक्ति हैं, न वह जो मरता है। वह आपका नहीं, आपके आदर्शों का दुश्मन है। अतः उसे हटा देना हत्या करना नहीं, महान् लक्ष्य को प्राप्त करने का एक प्रयास है। मगर इस ट्रेनिंग का वह शुरू से ही एक हिस्सा बन जाता—शायद आज यह परेशानी न होती। उसके दफ्तर और घर के पास पड़ोस के जाने कितने लोग चुप चुप वहां जाते थे, इसकी जानकारी उसे थी। कुछ ने उससे कहा भी कि अगर वह चाहे तो चल सकता है, मगर लापरवाही से उसने टाल दिया। हुंह, हमें उस सबसे क्या? हमारी तो यही शांत ज़िंदगी ठीक है। जहां एक बच्ची से सारा घर जगमगाया रहता है। उसके साथ बिताने को चाहे समय न मिल पाता हो, लेकिन हर पल, जाने अनजाने नसों के भीतर कोई घुटनों चलता रहता है, किलक कर हंसता है गोद में आने को मचलता है दूध न पीने की ज़िद करता है और बाज़ार घूमने के लिए हाथ पांव मारता है। सोती हुई बच्ची कैसी नन्ही देव शिशु सी लगती है। सोचता था कि उसीकी मुस्कुराहटों में ज़िंदगी का कुछ समय निकल जाएगा, हमें छुरे तलवारों के खेल या ट्रेनिंग से क्या करना है।? ताज्जुब होता था कि इस बच्ची के होने ने उसकी सारी बनावट में कितना बदलाव पैदा कर दिया था। वह कहीं भी कुछ क्रूर, गलत या झूठ करने को होता तो भीतर धुंधलके में एक निराकार हाथ उसकी कलाई पकड़ लेता वह अपने आपको इतना शांत, भरा व्यस्त और उल्लसित सा अनुभव करता रहता और कभी खयाल भी न आता कि कहीं कुछ लोग आसपास ही लूट पाट और मार पीट की ट्रेनिंग ले रहे हैं। कभी कभी किसी दोस्त से हंसी मजाक या बहस करते हुए उसे अचानक ध्यान आता—हो सकता है यह भी वैसी ही

ट्रेनिंग ले रहा हो। इस खयाल के साथ ही वह झटके से चुप हो जाता। फिर अपने आपको समझाता कि यह उसका भ्रम है। अगर यह वैसी ट्रेनिंग ले रहा होता तो शायद मुझसे ऐसे मुक्त भाव से न मिलता। और यह भी हो सकता है कि मेरा सम्पर्क ही इसके भीतर के किसी कोमल और मानवीय-भाव को जगाए रखे अब तो अफसोस ही होता है कि आसपास को भूलकर मुग्ध भाव से जीते चले जाने की कितनी भारी कीमत उसे चुकानी पड रही है। गुड्डी जिन्दगी को आनन्द उल्लास से भरने का स्रोत हो सकती है, जिन्दगी को बचाने का हथियार तो नही हो सकती! बच्चा सिर्फ सार्थकता दे सकता है, सुरक्षा नही। और यह क्षण तो अपने सबसे मूल्यवान और सार्थक को बचा लेने का है। चूंकि अपने सार्थक और मूल्यवान को बचाना असभव और नामुमकिन हो गया है, इसलिए हमलावरो मे शामिल होकर हरेक के सार्थक और मूल्यवान को समाप्त कर देना चाहिए—यह उससे नही हो पा रहा है कमजोर, कायर, बुजदिल, कुछ भी सही, इस स्थिति मे आकर वह 'उनका' हिस्सा नही ही हो पाएगा उसके प्रारब्ध मे सिर्फ बचाव की लडाई ही रह गई है

उसे अक्सर आश्चर्य होता है कि क्या सचमुच इन लोगो के पास कुछ भी मूल्यवान और सार्थक ऐसा नही रह गया है, जिसे बचाने की बात मन मे आए? तभी तो ये लोग दल के दल दूसरों के सार्थक और मूल्यवान को तहस-नहस करते, लूट पाट मचाते इधर से उधर दौड रहे हैं। हाथो मे न सही, क्या मन मे भी इनके कोई 'गुड्डी' नही है? रही तो जरूर होगी, लेकिन या तो इन्होने उसे कही फेंक फाक दिया है, या अपने भीतर ही उसकी लाश को दफनाकर अब बर्बरी सिंघाडो के साथ सगीनें लेकर निकल आए हैं! जब अपनी ही गुड्डी नही रही तो वे किसी-की भी गुड्डी को जीवित और साबुत नही छोडेंगे यानी इनका लक्ष्य मैं नहीं, मेरे हाथो का यह बडल है। यानी सारी आफत की जड यही है, वरना मुझे मारकर इन्हे क्या मिलेगा? ओहो! कितनी सीधी-सी बात है, इन्हें कुछ लेना थोडे ही है—ये तो सगीनो की रोशनी मे सिर्फ उस सन्तोष को तलाश कर रहे हैं कि जो कुछ इनके अपने पास नही है, उसे कहीं भी किसी दूसरे के पास क्यो छोडा जाए? उसे ही आखिर, इस बडल से

इतना मोह क्यों है ? क्यों नहीं दोनों हाथ बढ़ाकर कह देता—लो दोस्तो, जिस चीज की तुम्हें तलाश है, वह यह है। इसे कोंचो, मारो, रौंदो, कुचलो, और मुझे चारों ओर से ठोकर खाती फुटबाल की नियति से छुटकारा दिलाओ यह न हो तो मैं भी तुममें से एक हूं। पर कहा है ? मगर इतने से वे मान जाएंगे ? उन्हें कुछ भी चाहिए कहां ? उन्हें तो आखेट का सुख चाहिए

लेकिन नियति को चुन सकना, या यूं झटके से बदल सकना क्या अब सचमुच उसके हाथ में रह गया है ? गुड्डी मर गई है या जिंदा है, नहीं जानता। उसके मर जाने की सचाई का सामना न कर पाने की कायरता ही, हो सकता है उसे दौड़ा रही हो, हो सकता है उसकी यह दौड़ उसे कहीं न ले जा रही हो, और यह भी सच हो कि वह सिर्फ अपनी जान बचाने के लिए, जादुई तावीज की तरह गुड्डी को लिए-लिए भाग रहा हो, और तावीज का जादू एक चुटकी राख से ज्यादा कुछ न रह गया हो इस सबको न वह अलग अलग करके सोच सकता है, न कोई निर्णय ले सकता है सिर्फ इतना साफ है कि इसी बंडल ने अब तक की इस सारी दौड़ को सार्थकता दी है

और वह तो अपनी एक बहुत भीतरी सतह पर सिर्फ इतना जानता है कि जरा सांस लेने का मौका, सुस्ता लेने की सुरक्षा मिल जाए तो गुड्डी के शरीर की हल्की सी बची गरमाहट को भी वह जीवन में बदल सकता है । उसका मर जाना असंभव है और तब यह सारी यात्रा, अंगारों से नंगे पांव गुजरने की सारी यातना सिर्फ एक बीता हुआ दुःस्वप्न बनकर रह जाएगी।

लेकिन पहले उस झाड़ी तक तो पहुंचे

शिवप्रसाद सिंह

जन्म से लेकर आज तक कब गर्दिश नही रही, कब तपिश थमी, कब सुकून मिला, कब मनचाहे ढग से अपने छोटे मोटे लक्ष्यो को भी पूरा करने म सफल हो सका ? ये सवालात मेरे मन मे उठते रहे है और मैं चाहू तो निराला के शब्दो मे कह सकता हू—'रहा हारता स्वाथ समर'—गर्दिश चलती रही।

पर आपको विश्वास नही होगा, यद्यपि आपमे से बहुतो ने किसी पत्र-पत्रिका मे छपे मेरे फोटो को देखने के अतिरिक्त मेरे बारे मे शायद ही कुछ और जानने की जिज्ञासा की हो, पर मुझे विश्वास है कि मेरे फोटो को देखकर आप उसी तरह ईर्ष्या मे कह सकते हैं, जिस तरह मेरे अनेक सहपाठी और सहयोगी कहत हैं—हाय, कितना 'लकी' है यह आदमी।

जो मेरे परिवार को जानत हैं, उनकी तो तोबा कीजिए। वे एक साम मे कहेंगे—'चदेल बारहो' मे अपनी कीर्ति की ध्वजा गाडन वाले बाबू शिवटहल सिंह के पौत्र, जिनकी पूरे हजार बीघे की सीरदारी थी, जिनके खूटा पर चालीस बैल और दजनो गायें भसें बधी रहती, जिनकी गुडगुडी पर चिलम भरने के लिए राह चलते कोई भी आदमी बुलाया जा सकता था, तीन तीन मौजो मे छावनिया थी, वही शिवटहल सिंह न, जिनके घोडे न जिले भर मे नाम कमाया ? जी हा, वही शिवटहल सिंह, जिनके बारे मे कहा जाता है कि जब उन्होने अपनी लडकी की शादी की तो ऐन विवाह के रोज बारिश हो गई। मेरे गाव की माटी काली है, बहुत कीचड बनता है। बारातियो ने कीचड वाले आगन मे, जिसमे एक सौ आदमी पक्तिबद्ध बैठ सकते थे, बैठने से इनकार कर दिया। और आनन फानन शिवटहल सिंह के हुक्म से बखार मे से निकालकर अलसी के दाने आगन मे इतनी मोटी तह मे फैला दिए गए कि आगन 'मोजेक' बन गया।

रहा होगा शिवटहल सिंह का जमाना। मैं जब सिर्फ चार साल का

था उनका देहांत हुआ। मुझे सिर्फ इतना याद है कि बाबू शिवटहल सिंह बुलंद कद के गुस्सेवर आदमी थे। खाने के शौकीन थे और जिस भी औरत ने फुलके दागदार कर दिए या सब्जी में मसाला कम कर दिया, उसकी पूरी तरह लानत मलामत कर डालते थे। ऐसे ही प्रसंग में जब वह मेरी छोटकी आजी को डाट रहे थे, मैंने 'ओ ओ ओ ओ' करके उनके गुस्से म निकले शब्दों की नकल की थी, अपनी आजी की ओर से मैंने बारह गावों के सरनाम बाबू शिवटहल सिंह के दबदबे और रोब को बिराने की कोशिश की और वह गुस्से म बिफरना छोड़कर मुझे गोद मे उठाए हसते हुए आगन से बाहर चले गए थे। उस दिन छोटी आजी ने मुझे गोद में लेकर चूमते हुए कहा—अरे मेरे बाबू ! तूने आज मेरी जान बचा ली।

भला ऐसे शख्स का पौत्र होना क्या इस बात का सबूत नहीं है कि मेरी जिन्दगी म गर्दिश के दिन झाकने की भी हिम्मत नहीं कर सकते !

पर मैं आज अपने परिवार को नजदीक से जानने का दावा करने वालों की आखो के सामने से चौंधियाता परदा हटा देना चाहता हू कि शिवटहल सिंह का परिवार उनकी मृत्यु के सिर्फ बीस साल के भीतर एक सामान्य टूटती व्यवस्था और अन्यमनस्कता और कर्तव्यमूढ़ता में फस छटपटाते हुए बाबू गणेश सिंह का परिवार हो गया, जिन्होंने अपने पिता का शरीर नहीं, पर रुतबा और दबदबा प्राप्त किया था। ऐंठ कुछ बीस ही होगी, उन्नीस नहीं। घुन्नट वाली धोती, साफ दपदप कुरता और मुरेठा बाधकर जिला जीत घोड़े पर चलने वाले बाबू गणेश सिंह को मैंने बरसात के दिनों में घुटने बराबर पानी मे चलते हुए एक गाव से दूसरे गाव की यात्रा करते देखा है ताकि वह अहीरो और चमारो के यहा से उपले बटोर लाए, क्योंकि चालीस व्यक्तियों के कुटुब के लिए खाना बनाने के लिए ईंधन नाम की कोई चीज उपलब्ध नहीं है। मैंने गणेश सिंह को घायल साप की तरह फन पटकते देखा है कुछ भी न कर सकने की विवशता में लहरते पाया है। मैंने अपनी उम्र के बीसवें वर्ष में ऐसे गर्दिश के दिन देखे हैं जो बहुत विस्तार से वर्णन करने से ही पूरे सकते हैं। मैंने गणेश सिंह के टूटते हुए शरीर में जमींदारी की टूटती हुई ऐंठनें, फाकेकशी की स्थितियां और कलह का वह रूप देखा है, जिसे थोड़े म

कहना मुश्किल है। एक खून के लोगों के बीच चलती इस बीभत्स कलह ने मुझे बहुत तोड़ा है।

जब मैं बनारस पढ़ने आया तो तीन लड़कियों की शादी के लिए रहमानपुर का पूरा मोजा बिक गया था। छावनियों पर रहने वाले मेरे चाचा लोग अपने ही खर्च को जुटा न पाने का रोना रोया करते। ऐसे में मुझ जैसे लड़के के लिए, जिसने जमींदार खानदान में जन्म लेकर भी पढ़ाई जैसी चीज, बेहूदा चीज, की ओर ललक लगाई, शहर में भेजने के लिए गणेश सिंह ने विवाह के बाद बचे कुछ रुपयों से उदयप्रताप कॉलिज में नाम लिखा देने की उदारता बरती। वह कभी भी मेरे मन को टूटते नहीं देखना चाहते थे, इसलिए यह सोचकर दिलजमई कर लेते और खुश हो जाते कि शहर की पढ़ाई के लिए पचीस रुपये काफी हैं। जब वह मुझसे पूछते—का बचवा, काम चल जाई न ? तो मैं इस प्रतिष्ठित परिवार के सरगना का यह प्रश्न सुनकर घुमड़कर बरसने बरसने हो जाता, पर तभी अपने को संभाल लेता। मुझे लगता कि मैंने आगे पढ़ने की जिद करके इस परेशान और झूठी प्रतिष्ठा के भार को ढोने वाले व्यक्ति को कितने चक्कर में डाल लिया है। इस आत्मग्लानि से जब मेरी आत्मा कराह उठती तो मैं अपने खानदान की उस अंतिम विभूति के सामने गरदन झुकाकर कहता—जी हां। गणेश सिंह प्रसन्न होकर ठीक से रहने और सेहत का खयाल रखने की सलाह देते और मैं अपना सामान लेने के लिए बखरी में पहुंचता।

इन सारी स्थितियों से वाकिफ मेरी आजी चलते वक्त एक छोटी सी पोटली मेरे हाथ में थमा देती—दूध पीह ऽ ऽ ! वह कहती और करवट बदलकर मुंह मोड़ लेती। मैं आजी के खानदान का वर्णन नहीं करना चाहता, सिर्फ एक प्रचलित और आज तक चर्चित वृत्तान्त बता दूं। बाबू शिवटहल सिंह जब अपने ज्येष्ठ पुत्र बाबू गणेश सिंह का विवाह करने के लिए पूरे जमींदारी रुतबे के साथ बक्सर के पास स्थित चिलहरी गांव पहुंचे, तो एक घास काटने वाली ने कहा था कि क्या यह कोइरी चमारों जैसी बारात अर्जुन राय (मेरी आजी के पिता) के घर जा रही है ?

सो, मेरी आजी उस पोटली में कुल 15 विक्टोरिया वाले रुपये, जो

पर बीमारी चेहरा भले ही बदल ले, आक्रमण का वेग नहीं बदलती। बिरला होस्टल म रहा तो कमरा नबर 85 से पीछे खड़े खजूर के पेड को निहारा करता। मुझे बुखार मामूली नहीं चढता। या तो चढता ही नहीं और यदि चढा तो 105 के नीचे रहना वह अपनी तौहीन समझता है। अब मैं सब बीमारियां का लेखा-जोखा क्या दू। जिस बीमारी ने मुझे आमूल बदल दिया, उसीका वणन शायद आपको पसद आए। जी हा, दुखा की अजीब खसलतें होती हैं, अजीब मिज़ाज होता है, जब वे सिर पर चढत हैं ता उनके जिक्र से ही कपकपी पैदा हो जाती है पर वे जब छोडकर चले जाते हैं तो उनके हमले का वणन करना खुशी की चीज हो जाता है।

8 माच, 1968! क्या दिन था! मैं एम० ए० हिन्दी की कक्षा लेकर अपन कमर में आया। उन दिनो डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पुन हिन्दी विभाग के अध्यक्ष होकर आ गए थे। मैं अपने कक्ष से निकलकर उनके कमरे मे गया। कुर्सी पर बैठा कि एक अजीब किस्म की घबराहट होने लगी। मैंन बैग स पनडब्बा निकाला और एक पान खा लिया। पसीना आ रहा था और मुझे बेहद गर्मी लग रही थी। तभी एक कौंध जैसी उठी और मेरे पूरे दाहिने भाग म बिजली के करेंट की तरह छूती हुई निकल गइ। मैं बहुत घबडा उठा। मैंने पडितजी से कहा, मेरी तबीयत ठीक नही लगती। वहा प्रसिद्ध 'बॉटनिस्ट' डा० रामदव मिश्र बैठे थे। पडितजी और मेरी बात सुनकर उन्हाने कहा—आइए, नीचे मेरी गाडी खडी है, अस्पताल ले चलें आपको।

मुझे लडको ने, सहयोगिया ने सहारा देकर नीचे उतारना चाहा, पर मुझे अब बिल्कुल सामान्य जैसा लग रहा था। मैं सीढिया उतरता नीचे आया और डा० मिश्र की गाडी मे बैठकर अस्पताल आ गया। लोग बाग माने नहीं, स्ट्रेचर पर रखकर ऊपर ले गए।

ब्लडप्रेशर 170, डाक्टर भुनभुनाया। पैथेडीन की सुई दे दी गई। सबको कह दिया गया कमरे से बाहर चले जाए।

पता नहीं कार्डियोग्राम कौन सा नक्शा बना रहा था, मुझमे कौन बताता। पैथेडीन लगाकर डॉक्टर निश्चित थे कि यह आदमी सो जाएगा

तब बाजार में बाइस रुपये आठ आने को बिकते, देकर मुझे दूध पीते रहने की सलाह देती।

मैं इन दमतोड़ स्थितियों के बीच, जो आर्थिक दृष्टि से कुछ कम कष्टप्रद थी, पर मानसिक रूप से बेहद पीड़ादायक थी, बनारस पढ़ने लगा। इसी बीच परिवार टूटा। बाबू गणेश सिंह और उनके छोटे भाई बाबू बनवारी सिंह अलग हुए। फिर गणेश सिंह की मृत्यु के बाद मेरा परिवार टूटा यानी चार टुकड़ों में विभक्त जमींदारी का खंडहर निरंतर गालियों और अटट चिल्लाहट तथा अमानवीय संघर्षों का केन्द्र हो गया। घर में घुसना मेरे लिए बहुत मुश्किल हो जाता। सच तो यह है कि मैं कुछ इस कदर कटा कटा रहता कि सबका होकर भी किसीका नहीं था। यानी मैं अपने पिता की ओर से बटवारे में बोलना भी गुनाह समझता था और इस भयंकर घुमड़न में कभी छोटी भाभी पकड़ ले जाती तो उनके घर खाना खा लेता वरना गांव से बाहर फली क्या रियों में घूम घूमकर अपने को थकाता रहता। आप इन स्थितियों का साहित्यिक नक्शा ढूंढ़ना चाहें तो आपको 'दादी मां' से लेकर 'अलग-अलग वैतरणी' तक सैकड़ों जगह इसके बिखरे हुए रूप, चिगलियां, पड़े मिल जाएंगे। 'बीच की दीवार' इसकी शिनाख्त देगी।

मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ता था। बी० ए० का छात्र था। बिरला होस्टल में रहता। मेरे गांव को जहां प्रकृति बरसात में भीमताल में बदल देती है जहां हरियाली और रंगारंग पक्षियों का कोलाहल चित्त को लुभाता है, वहां मलेरिया के कीटाणु खून में खदबदाते हैं। बीमार तो मैं बहुत पड़ा। कभी-कभी तो मैं आज भी टेनीसन की 'मार्गरेट' कविता की पंक्तियां गुनगुनाता हूं

तकलीफ क्या तू मेरे खून तक हो जाएगी हावी,
अरे कभी तो हो जा प्यार-भरी जैसे कि दुल्हन,
अपना गुस्सा भरा चेहरा तनिक सा बदल तो दिलवर,
ताकि बन सकूं मैं भी आदमी नेक औ, सुलक्षण।

पर बीमारी चेहरा भले ही बदल ले, आक्रमण का वेग नहीं बदलती। विरला होस्टल में रहा तो कमरा नंबर 85 से पीछे खड़े खजूर के पेड़ को निहारा करता। मुझे बुखार मामूली नहीं चढ़ता। या तो चढ़ता ही नहीं और यदि चढ़ा तो 105 के नीचे रहना वह अपनी तौहीन समझता है। अब मैं सब बीमारियों का लेखा जोखा क्या दूं। जिस बीमारी ने मुझे आमूल बदल दिया, उसीका वर्णन शायद आपको पसंद आए। जी हां, दुखों की अजीब खसलतें होती हैं, अजीब मिजाज होता है, जब ये सिर पर चढ़ते हैं तो उनके जिक्र से ही कंपकंपी पैदा हो जाती है पर वे जब छोड़कर चले जाते हैं तो उनके हमले का वर्णन करना खुशी की चीज़ हो जाता है।

8 मार्च 1968! क्या दिन था! मैं एम० ए० हिन्दी की कक्षा लेकर अपने कमरे में आया। उन दिनों डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पुनः हिन्दी विभाग के अध्यक्ष होकर आ गए थे। मैं अपने कक्ष से निकलकर उनके कमरे में गया। कुर्सी पर बैठा कि एक अजीब किस्म की घबराहट होने लगी। मैंने बैग से पनडब्बा निकाला और एक पान खा लिया। पसीना आ रहा था और मुझे बेहद गर्मी लग रही थी। तभी एक कौंध जैसी उठी और मेरे पूरे दाहिने भाग में बिजली के करेंट की तरह छूती हुई निकल गई। मैं बहुत घबड़ा उठा। मैंने पंडितजी से कहा, मेरी तबीयत ठीक नहीं लगती। वहां प्रसिद्ध 'बॉटनिस्ट' डा० रामदेव मिश्र बैठे थे। पंडितजी और मेरी बात सुनकर उन्होंने कहा—आइए, नीचे मेरी गाड़ी खड़ी है, अस्पताल ले चलें आपको।

मुझे लड़कों ने, सहयोगियों ने सहारा देकर नीचे उतारना चाहा, पर मुझे अब बिल्कुल सामान्य जैसा लग रहा था। मैं सीढ़ियां उतरता नीचे आया और डा० मिश्र की गाड़ी में बैठकर अस्पताल आ गया। लोग बाग माने नहीं, स्ट्रेचर पर रखकर ऊपर ले गए।

ब्लडप्रेशर 170, डाक्टर भुनभुनाया। पैथेडीन की सुई दे दी गई। सबको कह दिया गया कमरे से बाहर चले जाएं।

पता नहीं कार्डियोग्राम कौन सा नक्शा बना रहा था मुझमें कौन बताता। पैथेडीन लगाकर डॉक्टर निश्चिंत थे कि यह आदमी सो जाएगा

ग्रौर उधर मेरे भीतर एक ग्रखाडा तैयार हो गया। मेरा दिमाग पैथेडीन से लड रहा था। मैं बिल्कुल 'नॉर्मल' था। मुझे मित्रो के सहानुभूति भरे चेहरो मे लग रहा था कि मामला कुछ गभीर है, पर मुझे न दद था, न परेशानी, न घबराहट। मैं ग्रपनी नब्ज देख रहा था। डा० बाजपेयी ने कहा—डा० सिंह, सोने की कोशिश कीजिए।

—जी। मैंने मुस्कराकर कहा—कई घटे कोशिश पर तब नींद ग्राती है।

मैं खिडकी मे देख रहा था, मेरे बी० ए० ग्रौर एम० ए० के विद्यार्थी झुड के झुड खडे हैं। सबके चेहरे उतरे हुए हैं, वे शायद मेरे पास ग्राने के लिए व्यग्र थे, पर रोक दिए गए थे।

पैथेडीन की दूसरी सुई।

मैं ग्रब भी होश मे था। पर ग्राखें बद थी। मैं देख रहा था, एक ट्रेन जा रही है। मैं प्लेटफार्म से उचककर उसमे बैठना चाहता हू, गाडी रुक जाती है। मैं ग्राराम से एक सीट पर बैठ गया। फिर किसीने कहा—ग्रब तो उतरिए। मैं उतर ग्राया। मुझे नींद कतई नही थी, बेहोशी, चाहें तो कह लीजिए।

तभी मेरे ग्रदर से ग्रावाज ग्राई—गाडी पर चढने ग्रौर उतरने मे कोई दिक्कत हुई?

मैंने कहा—नही।

—बस, इस गाडी का ऐसा ही हाल है। जरूरत पडने पर दूसरी गाडी मे बैठ जाना होता है। इसमे घबराने की क्या बात? यह सब कुछ ऐसा सनसनाता हुग्रा सा लगा कि पथेडीन की दूसरी सुई भी व्यथ गई ग्रौर मैंने ग्राखें खोल दी। मेरे सामने रखी बेंच पर डा० बच्चन सिंह बैठे थे। खूब ग्रासूदगी ग्रौर विश्वास स बोले—कुछ नही है, ग्राराम की जरूरत है। वह इस बेचारगी से हसे कि मेरी ग्राखें छलक ग्राइ। वह उसे सभाल न सके। उठकर चल गए।

खबर बिजली की तरह दौड गई। मेरी मा को खबर मिली तो चबूतरे से गिर गईं। सारा बटवारा [illegible] गया। मेरा सा[illegible] टहल सिंह का पूरा घर, गाव [illegible]। मुझे [illegible] है

देखकर किसी उत्सव जैसा लगा। मदिरा सारी दीवारें तोड देती है, यह सात्र की किसी भी पंक्ति जैसा लग सकता है, पर यह कितना सही है!

9 मार्च, 1968।

सारे डाक्टरी यन्त्रो ने दिलासा दी कि मुझे कुछ नही हुआ है। सिर्फ थकान है। गैस का थोड़ा प्रकोप था। मैं तीन दिन के बाद घर चला आया।

पर रह-रहकर वह प्रकोप हो जाता है, जब मैं चार घटे से अधिक बैठकर लिखता हू। मैंने एक दिन ऐसे ही मे सैमुअल जॉनसन से पूछा कि मिस्टर यह क्या है? वह बोले—भाई सुनो, दुख जीवात्मा पर पडा, एक तरह का जग है। यह बीज वे नये विचार छोड जाते है जो यहा से गुजरते हैं।

मैं दावे के साथ नही कहता पर मैं आश्वस्तिपूर्वक कहना चाहता हू कि मुझे बीमारियो ने जितना पाठ पढाया, सतही और गभीर दोनो, उतना मैं कभीभी पुस्तको मे प्राप्त नही कर सका। मैं चेस्टरफील्ड से सहमत हू कि यह एक तरह का टैक्स है, जिसे सबको अदा करना पडता है, किसीको कम, किसीको ज्यादा। पर मैं इतना और जोड दू कि विचारो की आमदनी का यह टैक्स किसी भी लेखक को अनिवार्यत भरना ही होता है।

आठ दस साल पहले की बात है। उस रोज़ पितृ विसर्जन था। और रविवार भी। दोपहर को खाना खाकर मैं लेटा तो मेरी पत्नी ने पैर पकडकर हिलाया। पूछने पर बोली कि उसे तब तक आठ दस कै दस्त हो चुके हैं।

मेरे दिमाग मे अचानक फुस्स की आवाज़ आई। जैसे किसीने सलाई जला दी हो। सन् 1953 मेरे लिए दुखद वर्ष था। क्या 1958 भी वैसा ही होने जा रहा है? मैंने कुरता पहना और डाक्टर को ढूढने दौडा। 1953 मे मैंने एम० ए० किया। कोई नौकरी नही थी। एक किताब लिखी 'विद्यापति' सिर्फ पद्रह दिनो मे और हिन्दी प्रचारक को देकर एडवास लिए पाच सौ रुपये। गर्मी कटी। पर आगे क्या हो, कोई रास्ता नही सूझता

था। पर से रिसर्च ज्वाइन करने का जुगाड नहीं बन पाया। उदयप्रताप कालेज में एक भवकाशजन्य जगह पर पढ़ाने जाता। गुट्टू होस्टल से दस मील दूर मोजूवीर। अगस्त का कोई दिन था। मैं कॉलेज से लौटा तो कमरे में एक चिट्ठी थी।

मैंने अक्षर देखकर जान लिया कि गांव से आई है। उस चिट्ठी ने अपने काले काले अक्षरों में बताया कि मेरा चार वर्षीय पुत्र और एक वर्षीय कन्या—दोनों ही एक दिन हैज़े से मर गए। मैं चिट्ठी लेकर हक्का बक्का खड़ा रह गया। केदारनाथ सिंह गुट्टू ही रहते थे, हिन्दी के रिसर्च स्कॉलर कोतमिरे भी। दोनों मुझसे बातें करते आ रहे थे, कमरे में उनके आते ही मैं अपने को संभाल न सका और चौकी पर गिर गया। मेरी भिंची मुट्ठियों में केदार ने वह चिट्ठी निकाली और पढ़ी। दोनों मेरे पास बिना खाए पिए घंटा बैठे रहे। अब क्या पत्नी की बारी है ?

मैं रास्ते में यही सोचता डा० गंगासहाय पाडेय के आवास पर पहुंचा। पाडेयजी ने सारी बात सुनी और तुरत अपनी गाडी निकाली और मेरे घर आए। उन्होंने दवाएं लिख दीं। पद्रह पद्रह मिनट पर बारी बारी से दवा दी जानी थी। वह मुझे समझा-बुझाकर यह कहते हुए लौट गए कि कोई जरूरत हो तो निःसकोच आ जाइएगा। मैं प्रतीक्षा करूंगा। उस दिन रविवार था, दुकानें बंद थीं। किसी तरह एक दुकानदार को घर से बुला कर दुकान खुलवाई और दवा ले आया। दवा दी जाती कै हो जाती, मैं बरामदे में केवल पदचारी करता रहा। तभी भीतर गया तो देखा पत्नी का सारा बदन कांप पड रहा है और श्वास में घरघराहट की आवाज बढ रही है। मैं पुनः पाडेयजी के घर दौड़ा, वह गाडी में बैठ कहीं जा रहे थे। मैं निराश हो गया। पाडेयजी जैसा बड़ा डाक्टर जो 32 रुपये फीस लेता है, मेरी ओर क्या देखेगा, मैंने सोचा और वहीं से मुड़ने को हुआ कि पाडेयजी ने पुकारा—डाक्टर साहब, क्या हालचाल है ? मैंने रुआंसा होकर कहा—अब शायद ही बचे।

—अभी अभी जैपुरिया के यहां किसीका एक्सीडेंट हो गया है, वहीं जा रहा था

—जी। मैंने कहा और लौटने की सोची। कहां जपुरिया, कहां मैं ?

—जा रहा रहे हैं ? आइए, गाडी में बैठिए, पहले गाडी रामा कोठी जाएगी। मेरी आँखें भरभरा आई।

मेरी इच्छा हुई कि डाक्टर की आँखों में देखू पर ऐसा न कर पाया। मनुष्यता के फूल की भी कैसी अद्भुत सुगंधि होती है !

डॉक्टर पाडेय ने ग्लूकोज की सुई दी। नब्ज पकडे बैठे रहे। सहसा आठ दस मिनट बाद पत्नी को जोर से जाडा शुरू हुआ और बुखार उभरने लगा।

डाक्टर पाडेय ने अपना बैग उठाया। कमरे से बाहर आए, बोले—खतरे से पार हो गई। अब कोई घबराने की बात नहीं। मैं उन दिनों ऊपर पाकेटवाला कुरता पहनता था। मुझे मालूम नहीं, उसमें कितने रुपये थे। मैंने पाकेट में हाथ डाला और सभी रुपये गंगासहायजी की पाकेट में डाल दिए। वह एक क्षण मेरी ओर देखते रहे, फिर उन्होंने वे रुपये निकालकर मेरे पाकेट में रखते हुए कहा—संकट में औपचारिकता पर ध्यान न दें।

मैं आज तक वह वाक्य भूल नहीं सका।

मैं बाद में जान पाया कि डाक्टर पाडेय न केवल विख्यात चिकित्सक हैं बल्कि साहित्यकार भी हैं, पर उस क्षण वह मेरे लिए इन दोनों से परे एक ऐसे मानव के रूप में खडे थे जिसे मैं कभी भूल नहीं पाता और जो आज अत्यंत दुर्लभ पदार्थ हो गया है। मैंने इसी संकट में ही मानव पहचानना सीखा।

मेरी दाई भगवान देई ने जिस निर्दय भाव से पत्नी के कै दस्त की सफाई की, उसने मेरी आत्मा के आगे से छोटे बडे के भेद का पूरा परदा ही खींचकर हटा दिया। आप उस नारी के बारे में 'आखें' शीर्षक कहानी में कुछ और भी ढूंढ सकते हैं। मृत्यु का साक्षात्कार सभी नकली आवरण तोड देता है।

उन दिनों मेरी मन:स्थिति विचित्र थी। अस्तित्ववाद मेरे लिए ढाढस की चीज तभी बना। मृत्यु एक बडा प्रश्नचिह्न बनकर ललकार रही थी। मैंने उसकी चुनौती 'मुरदा सराय' में स्वीकार की, किंतु सही अर्थ तो 1968 में खुद बीमार होकर ही जान पाया कि मृत्यु एक सहचर है, सहयोगी

है। मेरे लिए गर्दिश अभी भी घबराहट पैदा करने वाली एक मजबूरी है किन्तु उसने अपने हथौड़े से पीट पीटकर मुझे ऐसा बना दिया है कि मैं उसकी आंख में आंख मिला सकता हूं। उसके आगमन की घटनाएं, आमन्त्रित और अनामन्त्रित, इतनी हैं, कि मैं उसे अतिथि न समझकर बगलगीर समझने लगा हूं। और इस बगलगीर के ये थोड़े-से कारनामे मैंने इसी आशा से पेश किए कि गर्दिश दर्द भरे प्यार की चीज़ बन सके। बस।

कृष्णा सोबती

वक्त को सज्दा किया हजार बार—
इस बार तो हां' हो—
हर बार एक ही आवाज आई—नहीं!

दास्ता, अगर विरासत में मिल गई हो 'नहीं,' तो क्या कीजिएगा! न किसीसे कुछ कहिए। न सुनाइए। न दुख मनाइए। न दर्द को सहलाइए। बस देखते चले जाइए जिन्दगी की सीधी-सपाट सड़क को, जिसपर आपको चलते ही जाना है।

सच पूछिए तो 'गर्दिश के दिन' पर कुछ भी कहने के हकदार हम हैं नहीं। न हमारा कभी हलकी फुलकी, खूबसूरत तल्खियों से पाला पड़ा। न गर्दिश के दिनों का रोमांटिक चक्कर चला। न प्यार मुहब्बत के रंगीले गम जिन्दगी में हमारी रहनुमाई ही कर सके। न किसीने हमारे लिए ताल्लुक ही छोड़ा। न हमने कभी दूर से किसी दोस्ती से ही मुंह मोड़ा।

फिर भी हुआ कुछ यूं कि अपनी 'रौ' में हम अपनी 'मैं' को ही पालते रहे। 'अहम' को सवारते रहे। लेकिन इस सबके बावजूद एक बहुत बड़ी दुनिया से अलग अलग ही हम 'शनि' की रफ्तार से बंधे अपनी इकहरी मंजिल की ओर सरकते रहे।

चाल इतनी धीमी कि धरती के तीस बरस और किसीको भी मय डालने वाले शनि का एक बरस। जिसने इसकी सरपरस्ती में दिन गुजारे हों वह इस धमनखोर सितारे के हाथों पग पग पर पटखनियां खाने का आदी हो जाता है।

एक से जूझकर उठे कि दूसरी तैयार। दूसरी से सुलझे हुए कि किसी कोने में कुलबुलाती एक और चली आती है।

यही रफ्तार हालात की और यही, इसका काला गाढ़ा रंग,

दूसरी वह जो हर दिन दिन के रवाबा में सिर झुकाए पडी रही। ठोकरें बेशुमार खाई मगर उस ढीठ ने भी अपनी जगह से टलने का नाम नही लिया। मैं दोनो को एक दूसरे के आमने-सामने रख अपने को पहचानने की कोशिश करती हूं।

अपनी परिधि मे कुछ और अक्स भी तो होंगे। कुछ परछाइयां, जो संग-संग रहती हैं। मिली जुली आवाजें जो दूर दूर लहरो पर तैरकर फिर दिलो के मुहानो पर लौट जाती है।

मैं खिडकी से उगते सूरज की ओर देखती हूं और करवट लेकर फिर आखें मूद लेती हूं।

वे नन्हे-नन्हे मासूम क्षण, जो हर सुबह, हर सूरज की तरह, हर घर मे जिन्दा होते हैं, वे यहा नही हैं। यहा तो एक मैं ही हूं। मैं ही। मैं एक एहसास। एक पोशाक। एक ही दरवाजा, जिसमे मेरी ही परछाइं अंदर आती है, मेरी ही बाहर निकल जाती है। मुझसे ही सुबह शुरू होती है मुझसे ही शाम।

शायद इसीलिए मुझे ऐसे कमरे पसंद हैं, जिनमे से मैं बाहर को जाऊ तो कोई फर्क मालूम न दे। न यह लगे कि मैं अभी यहा थी। न यह कि मैं यहा नही हूं। मेरे होने न होने के बावजूद कमरा अपने कमरेपन मे बंधा रहे।

ऐसे कमरे घरो मे नही होते। जहा ये होते हैं, वहा आप गैरहाजिर नही होते।

आप सुबह हैं, शाम नही। आज हैं, कल नही। आप आन पहुंचे हैं, तो ताली उठा लीजिए। जा रहे हैं, तो ताली लौटा दीजिए।

कई छोटे बडे सफरो मे मैंने अपने इर्द गिर्द कुछ ऐसी आख मिचौनी देखी कि अपने वजूद को ही गैर समझ लिया।

साहिबगंज से मणिहारी गंगी घाट पहुचने के दौरान बोट पर रेलिंग के सहारे खडे खडे मैंने रात के अंधेरे मे अपने पूर्वजन्मो के इतिहास उनकी यातनाएं पानी की तरल सतह पर देख डाली। इन्ही लहरो मे पिघले-बीले अंधेरे मे मैं तैरती रही हूं, लेकिन अब मुझे गंगा पर लटके इस चांद पर

चला गया अपने मिजाज पर भी ।

मिजाज इतना गरीब कि गरीबी का शक होने लगे। दिल इतना अमीर कि अमीरी महज एक सलीका बनकर रह जाए। गुस्सा इतना तेज कि पलक झपकते तवर खनकने लगें । ठंडापन इतना कि सिर पर से तूफान गुजर जाए और इस पथरीले चेहरे पर शिकन न आए ।

अजीब सब गम, मिट्टी की तासीर वाली यह तस्वीर मेरी, खुद मुझे ही हैरान परेशान करती रही है।

दूसरो की निगाह से अपने को देखती हू तो एक मगरूर, घमडी औरत, चमक दमक वाला लिबास और अपने को दूसरो से अलग समझने का अदाज ।

अपनी नजर से अपने को जाचती हू तो एक सीधी-सादी खुद्दार। वक्त और खुदा दोनो ही जिसपर ज्यादा मेहरबान न थे, फिर भी अपने जिगरे के जोर से जिंदादिल ।

हलकी हवाओ वाली सुहानी शामें, जिनकी याद मे हर इनसान का बच्चा अपने तन मन मे सुख जगाता है, कुछ पाता है। बार बार जिन्दगी को लौटा लाता है वे घडिया जिन्दगी के 'आउट स्कर्ट्स' पर ही गुजर गइ ।

फिर भी, दोस्तो, हमने जिन्दगी के हाशिए पर अपनी कलम से कभी 'गम' का नाम नही लिखा । कभी तबीयत बहुत मचली तो अपने से यही कह दिया—न हुआ तो न सही । फिर सही ।

सच कहे तो यही ढिठाई हमे पालती रही। इसे हमने अपने को सालन नही दिया—हमारा करतब, बस, इतना ही रहा ।

कभी-कभार ऐसा हुआ तो कम, मगर हुआ, मुह अधेरे आख खुली कि अचकचाकर उठ बैठी।

सुबह के अधेरे और उजाले में अब तक की जी हुई जिन्दगी खुद-बखुद दो हिस्सो मे बट गई ।

एक वह जो अपनी राह रोक सामने आ खडी हुई, तो फिर आखो के आगे से सरक जान का हट जाने का नाम ही नही लिया ।

दूसरी वह जो हर दिन दिल के रवावा म मिर भुकाए पडी रही। ठोकरें बेशुमार खाइ मगर उस ढीठ न भी अपनी जगह स टलने का नाम नही लिया। मैं दोनो को एक दूसरे के आमने-सामने रख अपने को पहचानने की कोशिश करती हू।

अपनी परिधि म कुछ और अक्स भी तो होगे। कुछ परछाइया जो सग सग रहती हैं। मिली जुली आवाजें, जो दूर दूर लहरो पर तैरकर फिर दिलो के मुहाना पर लौट जाती हैं।

मैं खिडकी स उगते सूरज की ओर देखती हू और करवट लेकर फिर आखें मूद लेती हू।

वे नन्हे नन्हे, मासूम क्षण जो हर सुबह हर सूरज की तरह हर घर म जिंदा होते हैं, वे यहा नही हैं। यहा तो एक मैं ही हू। मैं ही। मैं एक एहसास। एक पोशाक। एक ही दरवाजा जिसस मेरी ही परछाई अदर आती है मेरी ही बाहर निकल जाती है। मुझसे ही सुबह शुरू होती है मुझस ही शाम।

शायद इसीलिए मुझे ऐस कमरे पसद है जिनम से मैं बाहर को जाऊ तो कोई फक मालूम न दे। न यह लग कि मैं अभी यहा थी। न यह कि मैं यहा नही हू। मेरे होने न होने के बावजूद कमरा अपने कमरेपन म बधा रह।

ऐस कमरे घरो मे नही होत। जहा ये होत हैं वहा आप गैरहाजिर नही होते।

आप सुबह हैं शाम नही। आज हैं, कल नही। आप आन पहुचे हैं तो ताली उठा लीजिए। जा रह हैं, तो ताली लौटा दीजिए।

कई छोटे बड सफरो म मैंने अपने इद गिद कुछ ऐसी आख मिचौनी देखी कि अपन वजूद को ही गैर समझ लिया।

साहिबगज से मणिहारी गली घाट पहुचन के दौरान बोट पर रेलिंग के सहारे खडे खडे मैंने रात के अधेरे मे अपने पूवजो के इतिहास उनकी यात्राए पानी की तरल सतह पर दख डाली। इन्ही लहरो मे पिघले-पीले अधेरे म मैं तरती रही हू लेकिन अब मुझे गगा पर लटके इस चाद पर

पहुचता है। यहा, यहा। उन कुछ घटा की यात्रा मे मैंने इस घाट स दूसरे घ से जाने वाली देहरी को पहचान लिया था। डर नहीं लगा। लगा कुछ ऐसा कि मुझपर मेरी देह नहीं है और मैं अपने अभावों की प्यास को जगाती हू। नहाती हू। नहाती चली जाती हू। जो भर आए कुछ इस तरह कि मेरी मुक्ति और मेरी प्राप्ति इसी पानी म है। इसी अंदर म है।

गंगा घाट पर पर रह स्नान की गंध न मुझे मेरी काया सौंप दी। शायद इस घ उस स्थिति अपने को दुबारा पा रही थी। लगा। जिस क्षणिक इस म मैंने उस रात खाना खाया होगा—मेरी जैसी आग रखने वाला आदमी ही पहचान पाता कि मैं कौन स्वभावों की रोशनी न । हू—मैं तो घाट के पानी और मिट्टी म बनी हाड़-मांस की लड़की हू।

उसकी रग पर फैली हू उसकी महक म नहाई हू, डरी हू स्वभाव म वही रहती है शरीर म वही अनजाना पाया है, सच तो यह है जिस घाट की घाट बन जाती है।

उसी तरह का रंग इन्हें देख छूकर उनकी आंखों में झलकता है। ज़िंदगी से जुड़े रहने की चाहत, हर बार इन्हें छूने में खाने में। उनकी निगाह में यह पढ़ सकने की पहचान मेरे पास है। पर उन जैसी चाहत नहीं। मैं तो इन्हें खाती भर हूं। खाती हूं और कुछ सोचती नहीं हूं।

आमतौर पर मैं ऐसे कपड़े पहनना पसंद नहीं करती जो मेरी शक्ल-सूरत से कहीं ज्यादा कीमती लगें। कोई रेशम या रंग आंख पर चढ़ जाता है तो बार बार उसे दोहराती चली जाती हूं। मैं बार बार वही पहनती हूं जो मुझमें खप जाए, जो हलका हो और ढीला हो।

अलमारी में ज्यादा कपड़े मेरा माथा गर्म कर देते हैं। लगता है मेरी बाहर और अंदर की सफाई पर कोई रंग बिरंगी कूची फेर गया है। फुटकर कपड़ों के गुच्छे जैसी 'मिडियॉकर' चीज़ कोई और नहीं।

यह बात सृजन के सम्बन्ध में और भी सच है।

सस्ता या महंगा कबाड़ उठाते ही चले जाना एक शब्द की जगह दस इस्तेमाल करना, एक इमेज की जगह विपरीत रंगों की भीड़ लगा-कर पाठकों को भुलावे छलावे में डाल देना—न सिर्फ कम अच्छा लेखन है, वह लेखन है ही नहीं।

बहुत खींचिए तो लेखन का जुगाड़ भर है, असली लेखन नहीं।

खर्च करने का ढंग मेरा न बहुत छोटा है न बहुत बड़ा। मां से यह सीखा कि जो भी खर्च करो, वह न लगे कि लुटाया जा रहा है। पिताजी से यह कि ऐसे खर्च करो कि अपने को भी खालिस ज़रूरत न लगे—शौक लगे।

इन दोनों का मिला जुला रंग मुझमें है।

कायदे से किया जाने वाला खर्च मैं शौक बना लेती हूं और शौक के लिए किया गया महज़ ज़रूरत।

अपने लिए कम चीज़ें खरीदती हूं। यहां वहां का छोटा मोटा रंग-बिरंगा सामान इकट्ठा करते जाना मुझे नापसंद है।

कसकर इस्तेमाल होने वाला ठोस सामान ही मेरी आंखों पर चढ़ता है।

कुछ भी खरीदने की तरह मुझे लिखने की भी कोई जल्दी नहीं होती।

पहुचना है। वहा, वहा। उन कुछ घटो की यात्रा मे मैंने इस लोक से दूसरे मे ले जाने वाली देहरी को पहचान लिया था। डर नही लगा। लगा कुछ ऐसा कि मुझपर मेरी देह नही है और मैं अपने अभावो की प्यास को जगाती हू। नहाती हू। नहाती चली जाती हू। जी भर भर, कुछ इस तरह कि मेरी मुक्ति और मेरी प्राप्ति इसी पानी मे है। इसी अधेरे मे है।

सहसा बोट पर पक रहे खाने की गध ने मुझे मेरी काया लौटा दी। डाईनिंग रूम मे उस दिन अपने को दुबारा पैदा होते देखा। जिस आदिम ढग से मैंने उस रात खाना खाया होगा—मेरी जसी आख रखने वाला आदमी ही पहचान पाता कि मैं वैदिक ऋचाओ की रोहिणी नहीं हू—मैं तो चनाब के पानी और मिट्टी से बनी हाड मास की लडकी हू।

उसकी रेत पर खेली हू, उसकी लहरो मे नहाई हू, तरी हू, स्वभाव मे वही रवानी है, तासीर मे वही अनोखा पानी है, सच तो यह है सिर्फ चनाब ही चनाब का सानी है।

अगर हमे कभी भी अपनी गृहस्थी जुटानी होती तो घर मे सबसे पहले लगता तदूर। मिट्टी के बरतनो की लगती कतारें। कनालियो मे गूदती मैं आटा। चगेरो मे रखती घी सनी रोटिया। और सोधी गध वाले सालन पकाती मैं हडिया मे। मेरे घर मे दूध बिलोने की चाटिया होती। पानी भरने को घडे। बैठने को होती रागली पीढिया और पसरने को होती सुतली की मजिया।

हमसे पूछिए तो गेहू की तदूरी रोटी पर घी मक्खन और धीमी धीमी आच पर पकी चापा की इलाही गध, इनके आगे दुनिया की सब नियामतें फीकी हैं।

वैसे खाने की दूसरी बारीकियो की हम तमीज भी कहा!

हा, एक फन का शौक जरूर है, सेव। देखा है बचपन से इस फन की खूबसूरती घर की सब छोटी मोटी खुशिया से जुडी है।

इसका रूप रग पिताजी के नजदीक बहुत-बहुत लगाव की चीज है। जैसे कोई अपने बच्चो को गहरे लगाव से, चाव से देखता है कुछ

उसी तरह का रग इह देख छूकर उनकी ग्रासो मे झलकता है। जिन्दगी से जुड रहने की चाहत, हर वार इहे छूने म, खाने मे। उनकी निगाह म यह पढ मकन की पहचान भर पास है। पर उन जैसी चाहत नहीं। मैं तो इह खाती भर हू। खाती हू ग्रौर कुछ सोचती नही हू।

ग्रामतौर पर मैं एस कपडे पहनना पसन्द नही करती जो मेरी शक्ल-सूरत स कही ज्यादा कीमती लगें। कोई रशम या रग ग्राख पर चढ जाता है तो वार वार उसे दोहराती चली जाती हू। मैं वार वार वही पहनती हू, जो मुझम खप जाए जा हलका हो ग्रौर ढीला हो।

ग्रलमारी म ज्यादा कपडे मेरा माथा गम कर दते हैं। लगता है मेरी बाहर ग्रौर ग्रदर की सफाई पर कोई रग बिरगी कूची फेर गया है।

पुटकर कपडो के गुच्छे जैसी 'मिडियाकर' चीज कोई ग्रौर नहीं। यह बात सजन के सम्बन्ध म ग्रौर भी सच है।

सस्ता या महगा कबाड उठाते ही चले जाना एक शब्द की जगह दस इस्तमाल करना, एक इमज की जगह विपरीत रगो की भीड लगा-कर पाठको को भुलावे छलावे म डाल देना—न सिफ कम ग्रच्छा लखन है, वह लखन है ही नही।

बहुत सोचिए तो लखन का जुगाड भर है, ग्रसली लेखन नही।

खच करन का ढग मरा न बहुत छोटा है न बहुत बडा। मा स यह सीखा कि जो भी खच करो, यह न लग कि लुटाया जा रहा है। पिताजी स यह कि एस खच करो कि ग्रपन को भी खालिस जरूरत न लगे शौक लग।

इन दोनो का मिला जुला रग मुझम है।

कायद स किया जाने वाला खच मैं शौक बना लेती हू ग्रौर शौक के लिए किया गया महज जरूरत।

ग्रपने लिए कम चीजें खरीदती हू। यहा वहा का छोटा मोटा रग-बिरगा सामान इकट्ठा करत जाना मुझे नापसद है।

कसकर इस्तेमाल होन वाला ठोस सामान ही मरी ग्राखो पर चढता है।

कुछ भी खरीदने की तरह मुझे लिखन की भी कोई जल्दी नही होती।

कोई हड़बड़ाहट नही होती। यही कि कुछ लिखने को होगा तो लिख डालेंगे। न लिख सके तो हमारे दोस्त लिख डालेंगे।

एक ज़ालिम सी तटस्थता दिल दिमाग पर कब्जा किए रहती है। चाहा बहुत, पर इससे छुटकारा न मिल सका। यही वजह है कि एक बहुत बड़ा वक्त खाद बनकर रह गया।

बरसो कोई रचना उगने का नाम नही लेती। कई बार ऐसा हुआ कि कुछ लिखने के लिए किसी कहानी उपन्यास का कच्चा माल, उसका टेक्स्चर, हाथ के पोरो में महसूस किया। उसी रात यह भी हुआ कि पूरी की पूरी कहानी आखो के आगे जिन्न होती चली गई।

बस, लिखी जाने से पहले ही कहानी खत्म। ऐसी कहानिया उपन्यास मैं कभी नही लिख पाती, जो शुरू से आखिर तक ब्योरेवार मुझे बिना लिखे ही मालूम हो।

ज्यो ही कहानी की कड़िया मेरी आखो के आगे घूमी, खोज करने की, सघर्ष करने की, मेरी गर्मी मर जाती है।

जहा कुछ ढूढ लाने का, डुबकी लगाकर पा लेने का, आश्चर्य न हो, उसे कलम से लिखना नितात बेमानी लगता है।

शायद इसलिए कि मैं किसी प्रेरणा या बाहरी दबाव से नही लिखती। मैं अपने समूचे होने मे रचकर, पैठकर जीने की तरह लिखती हू। उसी वक्त लिखती हू, जब लिख डालने के सिवा कोई चारा न रह जाए।

अपने अदर-बाहर, आगे पीछे, घटित हुआ, किसी एक लमहे मे सिमट कर जब आखो के आगे ढिठाई से ठिठक जाता है, तो हारकर कलम के तेवर उठाने को तैयार हो जाती हू।

बड़ी मुश्किल के दिन होते हैं और बड़ी मुश्किल से गुजरते हैं। जो निगाह मे अटक गया, उसे दिल दिमाग से तोल परख आप कुछ गढने बैठ जाते हैं। हाथ की मिट्टी को सम करते हैं, ठोक पीटकर देख लेते हैं और फिर वह सफर शुरू होता है, जिसे लिखना कहा जाता है।

लिखने वाले की हालत यह कि कुछ आसमान पर, कुछ पाताल मे। कुछ अपने अदर कुछ कहानी के। सच तो यह है कि लेखक और कहानी, दोनो की रूह मेज के आसपास भटकती रहती है।

ठीक से कह नहीं पा रही। जब तक जिंदगी से होड़ लेती, जीती-जागती तस्वीर उठकर बोलने नहीं लगती तबीयत तकले की धार पर चढ़ी रहती है।

अचानक आप कुछ और से हो उठते हैं। आखें ज्यादा साफ और दूर देखने लगती है। दिमाग चौकस और हाथ शब्दों के हीरे मोती समेटने लगते हैं।

हर शब्द का एक जिस्म। एक आत्मा। एक गंध।

जिस चीज को हाथ से उठाया है उसका संस्कार उसका मिजाज उसके तमाम रस रखाव, लग लगाव तक से वाकफियत होनी होती है। लिखने के वक्त यह सब कुछ ऐसी बारीक धार पर चलता है कि आपमें एक जादू-सा मालूम देता है।

आप लिखते हैं लेकिन महसूस करते हैं आप नहीं लिख रहे हैं कोई और लिख रहा है। आप यह दावा करना चाहते हैं कि लिख रहे हैं तो कहानी के पात्र आपको खबरदार कर देते हैं कि आप नहीं साहब, हम हैं जो आपसे लिखवा रहे हैं।

सच कहूं, ऐसे वक्त का सामना करने की हम कोई जल्दी नहीं होती। न कहानी शुरू करने की, न खत्म करने की, न ही कहानी को जी डालने की।

इंसान की जिन्दगी के इन गिन एकांत क्षणों की तरह ही कलाकार के भी कुछ सार्थक क्षण होते हैं। वे कहीं से तोड़कर नहीं लाए जा सकते। न ही चाहने से पाए जा सकते हैं।

उनके लिए तो बरसों इंतजार करना होता है हालांकि वे हर दिन आपके फिल के आसपास जिया करते हैं। कभी कभार आपकी बेखबरी में ही आपके दिल का दरवाजा खटखटाते हैं और लिखने की सूरत में आपसे जवाब पाते हैं। भाषा की सादगी भाषा की जान है। यही उसकी मिठास और यही उसका असर।

मैं 'डार से बिछुड़ी' का नाम लेना चाहूंगी।

एक दूसरा माध्यम 'यारों के यार' सा होता है। बड़ा खुरदरा और मर्दाना। जबान ऐसी कि पानी की तरह बहती चली जाए। हर शब्द से

एक स्थिति बन। एक तस्वीर उभरे। यहा तक कि गालिया भी उनके 'अडर-करेंट' को उद्घतित करें। उसके अदर बाहर के खोल का एक सग वातावरण से बाध दें।

आपकी कलम तब तक यह हासिल नहीं कर सकती, जब तक आप जिंदा जबान न जीते हो। यह जबान न शब्दकोश की मदद से गढ़ी जा सकती है, न गालियां या भंगिमाओं से उड़ाई जा सकती है। इस तो अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी म आपको एक तीसरी आख और तीसरा कान लगाकर सीखना होता है।

इन सबसे ऊपर और बढकर किसी भी अच्छी रचना के लिए एक और चीज की जरूरत होती है जिसे हर जानदार चीज की हड्डी कहा जाता है। इसके साथ ही वह घनत्व भी, जो रचना की मिट्टी म मौजूद होता है।

मित्रो मरजानी एक खुली डुली, जिंदा गरमाहट थी जो आपके गुलेपन मे कुलीनता के चौखटे से टकरा गई।

'मित्रो' को जानने के लिए मुझे न सिर्फ उस वर्ग के खोल स परिचित होना था मुझे गोडना था उस वग की जडो तक को भी। ताकि यह सब जान सकू जो आख से दीखता है और जो नही दीखता। इन दोनो को गहराई से, बिलकुल अनदीखते ढग मे, इस कहानी क आइमरान म धर सकू।

साहित्य और कला के क्षेत्र मे श्लील और अश्लील के प्रश्न को तूल देना मुनासिब नही।

स्थापित नैतिकता और धम की चौखटो के बाहर इन्सान की जिन्दगी का एक बहुत बडा हिस्सा फैला पडा है। उसकी उम्मीदें, आस्थाए उसकी कमजोरिया, प्यार और आर्थिक सघर्ष। इन सबको किसी एक के नाम पर छाट देना, उन्हें किसी दायरे स बाहर कर उसपर हमले करना मुनासिब नही।

साहित्य और कानून की निगाह एक नही हो सकती। साहित्य जीवन का दपण है जिन्दगी की बदिश नही। यह अलग बात है कि कला का एक आतरिक सयम होता है बदिश होती है, जो कला के बहाव को चढाव का,

खुद ही सहजती समेटती है। सत्य को अपने में सजाती है और उस खुले-पन में पनपने देती है।

'मित्रो मरजानी' और 'यारों के यार' के मुकाबले में 'सूरजमुखी' की भाषा बाहर की नहीं अतर की है।

पढ़ने में ज़रूर अतिरिक्त सतर्कता का आभास देती है। कहानी में कथा की जो अपनी मजबूरी थी, दरअसल, उसीने इसकी समूची राय को बांध लिया था।

सृजन के स्तर पर 'आतंक' का एक मूड होता है, इस मैंने 'सूरजमुखी' लिखकर ही जाना है।

'सूरजमुखी' में रत्ती के अंधेरे नकार में नहीं, आत्म करुणा में नहीं, वंचित हो जाने की उस सपाट स्थिति से उभरे हैं, जहां जिन्दगी में 'ट्रेजेडी' हो जाने का नाटकीय बोध तक नहीं।

बलात्कार केवल कानून की दफा नहीं, मात्र रस भंग ही नहीं छोटे बच्चों के अधकचरे खेल भी नहीं, अमंगल लहर की वह टूटी आसंग स्थिति है, जिसे अपने चाहने से स्रोत तक लौटा लाना जन्म-जन्मांतरों सा ही अनिश्चित है। शायद इस बार इस बार प्यार करने की दुविधा नहीं, किनारे पर फैली सूखी लहरों तक पानी न आ सकने की असमर्थता।

रीमा केदी और श्यमू के सम्मिलित दर्पण में रत्ती को जो दीखी है, वह है भुटना गए जीवन की आसक्ति—आसक्ति और आसक्ति।

इसी छटपटाहट में जी सकने की प्यास और प्यास और भंग हो गई लय का तिलमिलाहट-भरा बोध। मैं—मुझे—मुझे ही क्या नहीं—मैं भी जो हूं।

व्यक्ति की इकाई में धस गए आक्रमण का पुराना आतंक।

रत्ती की देह के द्वार पर उसका आत्मादर छिन्न हुआ है। उसका समूचा सोचना आत्मरक्षा के स्तर पर है।

आत्मरति का सवाल तब नहीं उठता, क्योंकि वह आत्मावहेलना से पीड़ित है। आत्मश्लाघा नहीं, उसमें आत्मसजगता है। उसके पास अपने बारे में यह जानकारी भी कि जिस अनोखे आनंद की अनुभूति मानवीय तन की सबसे बड़ी प्राप्ति है, वह उस तक पहुंचने में समर्थ नहीं। क्योंकि

उसके इस स्तोन पर दूब नहीं उग हैं।

प्रेम उस रोमांटिक शेड का उसके निकट कोई उपयोग नहीं। वह नाजुक रहस्य मर चुका है।

रत्ती जैसी औरत अपने सदमन में सिर्फ जान पहचान के दाव कर सकती है। सेक्स के कुदरती बहाव में उन्ति भग सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकती।

वह पुरुष के भीतर दया या हिंसा पैदा करती होती तो वह यहाँ वहा मिल जाने वाली हर वह औरत होती, जो पहले अपनी दया से पुरुष की हिंसा पकाती है और फिर पुरुष की हिंसा से अपनी दयनीय स्थिति को मजबूत करती है।

रत्ती यह औरत नहीं है। रत्ती बचपन के पारदर्शी काच के टूट जाने से घायल वह व्यक्ति है, जो सम्बन्धों की परिपक्व जमीन पर सुरक्षा के तबू नहीं गाड पाता। उसके आत्मकेंद्रित द्व द्व म एक ही चीज उसके हाथ लगी है। वह है बेरहम आख, जो एक साथ समानान्तर रेखाओं से दोनों दिशाओं को देख अग्नि बिंदु पर लौट आती है।

रत्ती के पास यह न होती, तो रत्ती के आगे नितांत दूसरा रास्ता होता—उसके अपने आत्मावमूल्यन से फूटता आत्म विनाश।

गदली हो गई स्मृति मन से उतरकर तन में सिकुड़न की तरह उन रत्ती चलती जाती है। सुला देती है, रुला देती है हर बार सहरा के सात का।

इसलिए रत्ती को आत्मापण के भाव में अपने सुनसान जगल पर वह पूजा जगानी पड़ी। उसके निकट वह दिवाकर के साथ सान का केवल सयोग नहीं था, सभोग भी नहीं वह था दिवाकर द्वारा उत्ती का रत्ती से जोड देने का नितांत साधारण और असाधारण वह बिन्दु, जो अपने पतले घनत्व से अब तक रत्ती को झुठलाता आया था।

दिवाकर के पास थी रत्ती को खोज लेने वाली एक नजर भर। दिवाकर इतना ही था। रत्ती का भी इतना ही चाहिए था। बराबरी के एहसास में एक ऐसा कोण बना था, जो एक साथ सो सकने की एक ओर से प्रार्थना थी दूसरी ओर से 'चैलेंज' था। इसमें रोमांटिक प्रेम के भीने 'शेड' ढूढना बेकार है।

'सूरजमुखी' का एक दिलचस्प किस्सा सुनिए। 'सूरजमुखी' के कुछ ही पन्ने बाकी थे। एकाएक दिमाग ने सोचना बन्द कर दिया। जतन किए, मगर सब ठप्प। बस, जैसे 'ब्लैक आउट' हो गया हो।

क्योंकि दिमाग हमारा ही है, सो हम एक-दूसरे की ढिठाई को खूब समझते-जानते हैं, तेवर पहचानते हैं।

एक हद तक हमने इसरार किया, आखिर तंग आकर हथियार डाल दिए।

कलम बन्द की और कहानी आंखों से ओझल कर दी। इसी कशमकश में कई दिन निकल गए। एक ही आदमी के दो हिस्से एक दूसरे का दम-खम आजमाने को तैयार।

एक सुबह जो उठे तो आंखों में पूरा पठार अंकित था। केवल उन मोनी की जगह सपने में मेरे अपने 'ईर्यारिंग' थे, जिन्हें सपने में मैंने ऊंची चट्टानों की ढलान पर से नीचे गिरते देखा था।

अगली रात सपना मैंने कागज पर उतार लिया।

कई बार ऐसा हुआ कि अचानक आंखों के आगे कुछ आ खड़ा हुआ और सच होकर रह गया।

एक बहुत अज़ीज़ दोस्त एक रात मुझे अचानक ऐसे दीखे कि मैं उनके लिए गुलाब खरीद रही हूं, बस इतना ही।

सुबह उठते ही मालूम हुआ कि गई शाम दुनिया से रुखसत हो चुके हैं—चुपचाप तैयार हुई और फूल लेने चल पड़ी।

मानना तो नहीं चाहती कि ऐसा अकसर सच ही होता है, पर होता तो है ही।

झूठ यह भी नहीं कि अपने सम्बन्ध में यही आंख कभी मदद नहीं करती।

'यारों के यार' की सुनिए।

आप लोगों की दुआ से कहानी खत्म हुई ही थी। कहानी का नाम देने को कलम उठाई, तो बस अटक गई, चली ही नहीं। कहानी क्योंकि गालियों से नमकीन थी, सो दो ही नाम उलट पलटकर मेरा फैसला खट-

खटाते रहे। नवर एक 'हरामजादे' और नवर दो 'उल्लू के पट्ठे'।

बडी कोफ्त हुई। कहानी का सारा सतुलन एक ही वजन के दो पलडो पर अटक गया। न यह जचे, न वह।

खैर साहब, एक दिन मुह अधेरे जो करवट ली तो याद आया, नीद मे जनपथ पर घूम रही हू। सपने मे जिस दुकान पर खडी थी, उसके बोर्ड पर लिखा था—'यारो के यार'।

करीब चौबीस घटे मैंने इस नाम को अपनी हद से बाहर कर दिया। अपने पास फटकने तक नही दिया।

दूसरी रात सोने से पहले छोटे मोटे कामो के बहाने मेज के इर्द गिर्द मडराती रही। अपने को उकसाती रही और आखिरकार एक बजते न बजते कहानी का नामकरण हो ही गया।

जैसे ही दीपक दिया, तबीयत उदास पड गई। नाम कहानी पर हावी हो गया था और मेरे आमने सामने इतराने लगा था।

नाम क्योकि कहानी का मौजू था, इसलिए मजबूरी की इस हालत मे भी इससे पगा लेने से मैं बाज नही आई।

मैंने तीनो नाम एक ही पक्ति मे लिखे और लावारिसो की तरह मेज पर छोड दिए। आखिरकार जब कलम चली, तो नाम वही रहा, जिसे रहना था।

अपने साथ इस तरह के चोचलो से मेरे मिजाज और मेरी तासीर का जायजा लिया जा सकता है।

यह किसी सितारे या ग्रह का असर नही, जैसा कि मैंने कही पहले लिख दिया है।

शताब्दी भर आतस इस डीलडौल मे खुद ही जो मौजूद है!

बस एक ही बात की मेहर अपने पर हुई कि मुद्दतो के बाद जब जब कुछ करने को उठे तो फिर तबीयत से, खुले दिल से, बिना कोर कजूसी के, कोताही ढिलाई के काम को सर अजाम दे सके।

यह हिकमत या खूबी हमारी नही। यह जादू किसी दूसरे का ही है। उसका नाम चाहे कुछ भी हो।

जब कभी काम मे होती हू तो चाय कॉफी कम कर देती हू और दूध पीने लगती हू।

मेज पर बढिया कागज का ढेर दीखता रहना चाहिए।

कुछ भी शुरू करने से पहले कागज खूब फटा करते है।

पहली पंक्ति उठाने की घबराहट और तनाव इसकी वजह होते हैं। लगातार घटा भर भी नही लिख पाती। ज्यादा से ज्यादा एक घटा। एक बार मेज छोड देने के बाद लिखे हुए के बारे मे कुछ भी सोचने की इजाजत अपने को नहीं देती। ऐसे वक्त दो मुख्तलिफ ताकतें एक दूसरे पर हावी रहती हैं।

मैं खुद को शक की निगाह से देखने लगती हू। ढूढ-ढूढकर अपनी सीमाओ और कमजोरियो की याद दिलाती रहती हू अपने को। बडे दिलचस्प ढग से अपनी आशा के आगे इनकी भीड लगाए रहती हू। एक तरफ दुश्मन की तरह अपने पर सख्ती करती हू, दूसरी ओर जो भी चाहू और जो कर सकू, अपने लिए मुहय्या करती हू।

अपने और लिखने के बीच सिर्फ शिष्टाचार का नाता ही रखती हू। न उसके बारे मे ज्यादा सोचती हू, न अपने पर छा जाने के लिए उसे उकसाती हू। और न ही उसे अपनी आशा पर बिठाती हू।

दिल दिमाग के शीशा को साफ करने के लिए सिर्फ एक 'छोटा'। दो' और 'बडा' कभी नही।

अपनी अपनी लीक पर अडे, एक दूसरे के तापमान से बधे हम इस तरह शौकिया ही मजबूरी की हालत मे लिखने का सफर तय करते चले जाते हैं।

रग-ढग कुछ ऐसा पाया कि देखने वालो से 'ठीक ही है' की निगाह और देखने वालियो से 'समझ क्या रखा है' का आमना सामना होता ही रहा। अपना चलन क्योकि एक ही पटरी पर रहा, इसलिए गगा-जमुनी तरेरें नजर और परिहास व्यग्य के तीर तरकस अपने से अक्सर टकराते ही रहे।

यह तो सच न होगा अगर हम कहे कि इनके लिए हमारा कलेजा

छलनी ही हुआ, लेकिन, दोस्तो, इस सिलसिले मे बडे बडे जालिम और मासूम चुटकुले अपने हाथ लगे। और अपने ही इस मामले म निहायत सजीदगी से अपना नही, दूसरा का साथ दिया।

एक पार्टी मे हमारा तौर-तरीका देख किसी भली पुरखी सुहागिन न हमे फूल छड दे मारी।

बडी प्यारी, दूध की घुली, अम्मीजान वाली नजर से हमारे छोटे-बडे माप देखे और मुलायम आवाज मे कहा

—आपको गाने बजाने का शौक मालूम देता है!

जैसे ही हमने मतलब भाषा, हमने बडी हलीमी से हसकर खास अपनी नजर का कैमरा उनके हाथो मे थमा दिया। और एक के बाद एक अगली पिछली तस्वीरें खिचवाते चले गए।

उस शाम की सबसे साफ तस्वीर जो उजागर हुई, वह कुछ यू थी कि हम सजे-सवरे, हाथ म मीनाकारी वाली सुराही लिए, कुछ उडेले चले जा रहे हैं। (कहा, क्या, यह न पूछिए!)

हम मालूम था यह 'मित्रो मरजानी' वाली कतरन नही थी, जो अपने चेहरे पर चिपकाई जा रही थी। यह खालिस रग तो उस घरेलू नजर का था, जिस मुझस न कोई शिकवा था, न शिकायत थी। उस गह लक्ष्मी ने तो फकत अपनी मुबारक चौखट से हमारे जैसे बेघर बाहर वाली नाचीज को देखा भर था।

हमने बुरा नही मनाया। मनाए भी तो क्या! नेकनामी का नशा अपने को कभी रहा भी नही। वे लाखो जतन, जो इस नेकनामी के लिए आदमी करता ही चला जाता है अपनी हद के बाहर ही समझिए। साहब, जिसकी रिहाइश लाल डोरे के बाहर हो, वह पचो की राय अपने माथे पर काहे चढाएगा? वह तो एक ढीठ बच्चे की तरह लापरवाह हो जाएगा। किस्सा कोताह यह कि वह आजाद हो जाएगा।

'मित्रो मरजानी' के बाद हुआ कुछ ऐसा कि यार लोग हम ही 'मित्रो' समझने लगे।

'यारो के यार' के बाद बातचीत करते कुछ एसा इनजार भी रहने लगा कि अभी बोलचाल मे ही गालियो के नगीने जडने लगेगी। वसे मुझे

उनसे कोई परहेज नही। आजमा कर देखा है, चीज काफी पुरअसर है।

'सूरजमुखी' तक आते आते यह मान लिया गया कि मैं अक्सर पिए रहती हू। और अमुक यह है वह है, और वह है। कई सीधी सादी दोस्तिया इस हल्ले मे रगीन हो गइ।

हम वही क वही पुरान गाव की मिट्टी के बने और शहर म पले। दिल्ली को महानगर कहने की हिम्मत हमारी कहा ! हा, यह सच है कि गाव और शहर की सब सुविधा और कमजोरिया हमम एक साथ मौजूद हैं। खुलापन, तो जी भरकर। शहर का मुलम्मा, तो वह भी जी भरकर। हमें इसकी तसल्ली है कि हमन कभी किसीको 'टिप' न कम दिया और न ज्यादा। हमारी नजर मे जितना बडा गुनाह कम देना है, उतना ही बडा फूहडपन ज्यादा देना भी।

सच कहू तो अपना देहातीपन हमने अपनी आत्मा मे बचा रखा है, और शहरीपन अपने तौर तरीके और लिबास म।

दुनिया की सब छोटी बडी नियामतो के मुकाबले म गहू की रोटी पर हजार हजार बार फिदा हू।

चपाती खूब अच्छी बनाती हू, तवे और तदूर, दोना की। धीमी आच पर बिना पानी का गोश्त और भी अच्छा।

हा, हम घरलू कामो म कतई दिलचस्पी नही रखत, लेकिन हाथ में कोई भी काम करने म न हमारा जी उलझता है, न सहत ही गिरती है। नौकर नौकरानी की मदद न रहन के पुराने पचडे पर अपने घर का दस्तरखान ही वीरान कर डालने वाली 'शहीदो' हमारे 'फोड म नही।

अक्सर सपनो को झुठला जा । देखा है। शायद यही वजह है कि ऐसे सूखे मे मैं छोटी से छोटी हरियाली को किसी भी खजान स ज्यादा कीमती समझने लगती हू। किसी भी हरे टुकडे को इस हद तक चाव स जीती हू कि उसीमे जिन्दगी की भरपूर हरियाली महसूस कर सकू।

अपन को किसीके साथ क्योकि कभी घाटा नही है इसलिए लौट-पलटकर अपना बिदु मैं खुद ही बनी रहती हू। अपन ही मुझे दूसरा को जानना होता है इसलिए अपन म बनी भूल भुलया म गिधर स झाकिए अदर मैं ही मैं हू। इमारत क्योकि भरी पूरी नही इसलिए हर बार

पुकारने पर गुवद से टकराकर एक ही आवाज आती है— मैं। मैं ही। मैं ही। मैं। मैं

वह करामकन यहा नही, जिसमे व्यक्तित्व की विपरीत दिशाए उजागर होती हैं और आपको उस वडी म पिरो लेती हैं, जहा आप कभी बडे होते हैं, कभी छोट। आपको लेन देन की, जमा तफरीक की, दे दन की और न देने की—ले लेन की ओर खोस लेन तक की तालीम मिलती चली जाती है। जाहिर है, ऐसी सतरगी धारिया अपने मे हमे कभी नहीं दीखी। इस तरह के व्यावहारिक मामलो म हमारी हालत निहायत सीधी सपाट होन की हद तक बोर है। जो हम चाहत नही हैं, नहीं चाहन। और जो चाहते हैं बस चाहते हैं।

इसका दूसरा पहलू एक और भी है।

आपके पीछे आपकी कोई कतार नही, इसलिए आप हर सामने वाली कतार को, भीड को, समझने की कोशिश करते हैं। हर चीज के दोना पहलुओ को तटस्थता स जाचन की जुगत करत हैं। रिश्ता फिर भी आमने सामने का रहता है। साथ साथ जुडे हुए लोगो का सा नही।

यू अपनी सत्ता को, अपनपन मे बरकरार रखने मे भी एक हल्का सा नशा है। लेकिन, दोस्तो, कभी, किसी मौके पर आपको सिफ इमदाद की ही जरूरत हो, तो वह आपको न मिल सकेगी। अगर आपने अपने इद गिद सम्ब धो का जाल नही बिछा रखा, तो आप हर मामले मे अकेले हैं। हमसे पूछिए, तो यही वह अहसास है, जो आपकी खुदी को तराशता चला जाता है।

मैं बराबरी की दोस्ती ढग से निभाती ■। क्योकि कभी छोटे थे नही, बडे कभी हुए नही, इसलिए यह अदा आज तक पाले हुए हैं।

हम क्योकि किसी भी साहित्यिक गुटबदी के बाहर हैं, इसलिए हमार सभी अदबी दोस्त हमे हमेशा गम जोशी से मिलते हैं। साहबो, इस 'इन्टलेक्चुअल' बिरादरी मे अगर किसीको फायदा न दे सके, न किसीस कुछ फायदा ले ही सके, तो उसे बेमतलब कौन याद रखता चला जाएगा इसका अहसास हमे है।

हम यह दोस्ती के खिलाफ नही, अपने हक म कह रह हैं।

हमे मन ही मन इस बात का गुमान है कि हमें न अपने पाठको से शिकायत है, न आलोचको से और न ही अपने प्रकाशको से।

यह 'त्रिलटी' बडी मुश्किल से बचती है, इसलिए इस नाजुक रिश्ते से हम ज्यादा छेड छाड नही करते।

पाठक कम हो तो हो।

आलोचक कभी रौ मे आकर कोई उन्नीस बीस कह दें, तो कह दें।

प्रकाशक छापने मे देर करे, तो करे। किताब न बिके, तो न सही।

इन सबको 'साधने' और सहने के लिए हमने छाती पर पत्थर नही रखा हुआ। लेकिन साहब, हमे खूब मालूम है कि एक अच्छे लेखक का जिगरा बडा और हिसाब कमजोर होना चाहिए।

कामयाब आदमी और कामयाब लेखक के रास्ते यकीनी तौर पर अलग अलग है।

हम सीधे-सादे लोग अच्छे लगते हैं। आमतौर पर यही वे लोग होते है, जिनकी आखो मे आप इन्सान की खुशिया, गमो, उम्मीदो, आस्थाओ का असली रूप-रग देख सकते हैं। अजीब बात है आदमी जितना ही ज्ञान विज्ञान मनोविज्ञान से लैस होकर बारीकी से जिन्दगी को देखने का समझने का दावा करता है उतना ही जिन्दगी से दूर होता चला जाता है।

मेरे एलबम मे ऐसे लोगो के चेहरे हैं, जिन्हें मिलकर, जानकर मैंने कुछ ऐसा पाया, जो किसी किताब मे न पाया। जिन्दगी के प्यार से सराबोर जिन्दगी से जूझने की सामर्थ्य, सघर्ष कर सकने का जीवट रोने और रुलाने के बहाने, मजबूरियो और विवशताओ के गहरे कटाव, छोटी-छोटी, खूबसूरत खुशियो की बुनी जाली इन्ही लोगो के दिल के सामने उगती है, पकती है और कट जाती है। यही वे लोग हैं, जो अपने आसपास की दुनिया से अपने होने को पहचानते हैं। अपने जीने को जानते हैं। लेखक एक दूसरे सिरे से बाहर वाली दुनिया को परखता है, पहचानता है। फिर उसी जिन्दगी को दुबारा साहित्य के लिए बाध लेता है।

वे लोग मेरे दोस्त कभी नही होते, जिन्हे हर हिमत कपडे के नीचे

कोई जिस्म ही नजर आता है। उठी हुई बाहें गुजनाने को तत्पर और हर जिन्दादिल औरत आन्धी टापर डांग डालने की तैयारी में लगा दीखता है।

एक के साथ एक जुड़ी हुई घास माहौल में बाहर फैला और धूप पीता हर आकार दरहैं किसी न किसी शक्ल नजर आता है।

मैं यह यकीन करना चाहती हूं कि इस नगरी परदगाया की तरह इसे अभी जंग नहीं लगा। यहां भी कुछ तावन है इस माहौल से निकलने को तोड़ डालने की। अपनी मर्जी इतना पर जिन्दगी की धूप सेंक सकने की।

मैं गुल में घूमना पसन्द करती हूं। बंधे बंधाए प्रोग्राम नहीं। रानीखेत जा रही हूं तो मन हो जाने पर नुक्ताली उतरा जा सकता है।

रामगढ़ की ओर गए तो फिर पैदल ही मुक्तेश्वर। एक बार नौकुछिया ताल से भीमताल पहुंच गई। शायद जी न भरा था—वहीं भटक रहा था। त्रिशूल को मुंह अंधेरे देखा। शाम को भी। रात आंखें मूंदा तो नौकुछिया के निर्जन किनारे रात भर आंखों पर पहरा देते रहे।

समझ गई क्या चाहती हूं। लौटकर वहीं पहुंची। पूरी दुपहर ताल किनारे पगडंडी पर घूमती रही। नौकुछिया में पानी नीला था और किनारों से सटा वीरान सूनापन। एक खाली सूनी 'कॉटेज' में नीले रंग पर ईसा को लटके देखा तो पांव जड़ हो गए। आसपास कोई ऐसा दर्द था, जो हद से गुजर जाने के बाद बेदर्द हो जाता है।

दार्जिलिंग से कलिम्पांग जाते 'कोरोनेशन ब्रिज' पर से मौत को झुठला जाने वाले अपने इरादे से सामना हो गया था। एक क्षण कितना लम्बा हो सकता है मैंने इसको कभी नहीं जाना था। तिस्ता और रणजीत के उफनते पानी और गहरी नीलाई में पड़ते भंवर, किनारों पर छाए घने पेड़ और ऊपर चमकती सांझ की धूप। जैसे किसीने मुझे जकड़ लिया था। यहीं यहीं यहीं

उस शाम दार्जिलिंग लौटकर मैंने किसी अदृश्य को पीठ दी थी।

डलहौजी से खजियार जाती कालाटोप और डैन कुंड। आसमान को छूते चीड़ और दूर दीखती नदियों की अलग अलग धाराएं। वहीं, एक

बहुत ऊंचे पेड़ को कत्ल होते देखा।

टूटते कटते उस पेड़ की भी क्या शान थी ! कुल्हाड़ी वाले कुछ ऐसे कि मारते चलो—खड़े हैं—न खड़े रह सकेंगे तो गिर जाएंगे। मर जाएंगे।

पुरानी बात है। एक शाम भुवाली के डाकबंगले में चाय ले रही थी कि पास खड़े खानसामा की आंखों में मैंने जाने क्या पढ़ लिया। वह एक लमहा था जिसने मुझे बादलों के घेरे' की मिट्टी से एक कर दिया।

खानसामा के ख्याल में मैं एक मरीज थी और 'सैनेटोरियम' में रहने आई थी।

मैंने अपने सहतमंद होने के डिफेंस में सूटकेस की ताली खानसामा को दे दी और गुसल लगा देने को कहा।

खानसामा ने यकीन न करने वाली नजर से देखा। कुछ कहने को था कि मैंने खीजकर कड़े स्वर में कहा—पानी तेज गर्म होना चाहिए।

'टॉवेल स्टैंड पर सुथरे दो तौलिए, साबुन, गर्म पानी

एकाएक भयभीगी सिहरन बदन में दौड़ गई। कैसे नहाऊंगी ? नहीं। यह बीमार जगह है। साफ जगह नहीं।

बीमारी के कीटाणु और लंबा, बेरहम इलाज फर्श पर रेंगता हुआ मेरे बदन में सरसराने लगा।

न गुसल किया, न हाथ पांव धोए। बाहर निकली और खुले में बैठ गई।

खानसामा को कोई हैरानी नहीं हुई। एक-दो बार ताजी चाय दी फिर अदब से कहा—हुजूर अब अंदर जाना ठीक होगा। सरदी आपके लिए ठीक नहीं।

मैंने तिलमिलाती निगाह फेंकी तो जवाब में रहम ही रहम था।

बड़े ही मजे मुलायम अंदाज में कहा—ठीक हो जाएगी, हुजूर—ऊपर डाक्टर बहुत अच्छे हैं।

मैं खानसामा को नोच लेना चाहती थी। मेरे खिलाफ उसका फैसला अटल था।

अंदर आई—बिस्तर देखा कि बीमारी के ख्याल से तड़पन लगी।

खानसामा को बुलाया और नफरत भरी आवाज में कहा—हमारा सामान समेटकर सुबह भीमताल पहुंचा दीजिएगा। हम यहां से पांच बजे चल देंगे।

—जो हुक्म, साहिब!

मैं एक साथ अपने बदन में पैदा होती बीमारी की सहम और खानसामा की अनुभवी आंखों में अपने लिए बेमतलब तरस महसूस कर सिमुटने लगी।

उस रात बिल्कुल नहीं सोई। कमरे की मनहूस दीवारों पर खानसामा की आंखें बार बार विद्रूप करती रहीं।

सुबह की चाय आने के पहले मैं तैयार हो चुकी तब तक नक्कर लगा आई थी।

सामान और कुली के लिए पैसे दे मैंने खानसामा को भरपूर तगड़ा और इनाम का नोट उसकी ओर बड़ा रोबीले अन्दाज से कहा—खानसामा साहब, हम उस बीमारी के मरीज नहीं, जिसका आपको शक है। खुदा न करे कभी हों। वैसे आपने हम रात भर के लिए जरूर मरीज बनाकर ही दम लिया।

खानसामा का अदब कायदा उनकी इमदाद को आ खड़ा हुआ।

—गलती के लिए माफी हुजूर। नक यू गुज़रा कि रजिस्टर में नाम भरते आप कुछ सोचने लगी थीं। आने का मकसद पूछने पर आपने कहा, हम कोई काम तो यहां नहीं, रानीखेत जा रहे थे रास्ते में उतर गए। गुस्ताखी माफ, हुजूर, भुवाली पर कोई सैलानी क्यों उतरने लगा!

ऐसे 'एगिल' की पर कटी आंख को हमने बहुत बार लोगों पर झपटते देखा है।

तुक्का एक ही तीर था।

अपनी अंधी खुर्दबीन से जिसे देखा जब देखा, उसका आधा हिस्सा ही गायब हो गया। सच पूछिए, तो जिन्दगी और जिन्दगी जीने वालों की बेशुमार तहें ऐसी हैं जिन्हें कानी आंख नहीं देख सकती। अपने को अपने ही तंग, छोटे दिल से आजाद करना बेहद जरूरी है। साहित्यकार के निकट यह पहली शर्त है। सिर्फ वही न देखे जो सतह के ऊपर दीखता

है। वह भी जाचे, जो दीखता नहीं है और तह के नीचे है। अभी आज का साहित्य साहित्य नहीं, खिडकीबाजी है।

एक कडकडाती दुपहरी। खजियार से पैदल चला। तपती चट्टानों पर पाव जलने लगे। हलक सूखने लगा। गर्मी से निढाल हो ही जाती थी कि मोड पर से इरावती का तेज पानी दीख गया। दौडने लगी। इरावती में डुबकी लगाऊगी, जी भर भर नहाऊगी।

नीचे किनारे पर पहुंचा तो पाव गर्म चट्टानों पर ही जम गए।

इरावती का वेग मुडती धारा का हरहराता शोर—खतर ने मेरी आखें लीप दी थी।

दरियाओं के सुहाने बहते पानियों की बात सोच-सोचकर सुख होता है कि हम भी पैदा हुए ऐसे ही भागोंभरे, अलबेले दरिया के किनारे। उसकी शोख, जवान कहानिया जहान में मशहूर हैं।

मीठा, अनोखा नाम उस दरिया का—चनाब। चनाब के किनारे हर बरस बैसाखी के मेले जुडते। दुधरी आचला वाली मांगों की झालियां में नये कच्चे सुच्चे गुलाब की पखुडिया में चनाब का पानी चलते। नये कोरे कपडों में जहा की तगडी ताजी मुटियार कदम उठा चलती। जहां ऊचे, हट्टे कट्टे गबरू तहबद के पल्लू लटकाए खेतों की रखवाली करते। जेहलम और चनाब के बीच की धरती पर यही कद्दावर जने हाड मास और लहू के पेड बन जाते।

वही, उस आवभरी धरती पर, हम भी खेला किए।

आखों में खुब जाने वाली दुल्हिनें। ठस्स और नखरे से पैडे उठाती, झनकार करती बाह, तदूर पर झुकी गोरी, तपते रग वाली मुटियारें—वो धरती, वो फसलें, वो दरिया, वो लहलहाते दरियाओ के किनारे—सब छूट गए।

अब उस धरती की बरकतों को कौन जीन जी माथे से लगा सकेगा? कौन उस पानी को होठों से छुआ सकेगा?

सियासत ने कुदरत के रास्ते बदल डाले। दरियाओं के रुख पलट डाले। वतनों के नक्शे बदल डाले। कौन जाने उन राहों की राहदारी

कब खुले !

कब खुलेगी ? जब पुरानी यादों को सजाकर रखने वाले धड़कते दिल मिट्टी हो जाएंगे ? कुओं पर छाए दरख्त पुराने पीपल सिर्फ पेड़ बनकर रह जाएंगे। दरियाओं के चेहरे सिर्फ भूगोल के नाम—शायद तब दोनों ओर से फाटक खुलेंगे

बहुत देर हो चुकी उस पानी को छुए—उस हवा को पिए।

एक राज की बात बताएं। उस पानी और हवा को हमने लोहे के एक संदूक में बंद कर रखा है।

इसका खोल मैला हो गया है। बदरंगी भी। फिर भी इसे खोलने की हिम्मत नहीं होती।

इस संदूक से मुझे आज भी पकी फसलों की गंध आती है। धूप में सरसों की बासंती चूनर दीखती है। उन कच्ची, सगी राहों को गुजाती घोड़ों की टाप सुन पड़ती है। रहटों की सुहानी लय मेरे कानों पर झुक जाती है

इस संदूक में उस धरती की खुशबू बंद है।

उस पुराने लिखे उपन्यास को खोलने की हिम्मत नहीं होती। अपने को लाख डराया है, धमकाया है, फुसलाया है, पर कुछ भी कारगर नहीं होता।

अपने आगे आप ही बेबस हूं।

फिर भी इंतजार है उस घड़ी का—जब जिंदा हाथों से उसे खोल सकूं।

दोस्तो, जिन्दगी ने कभी खुल गया तो फिर मुलाकात होगी।

खुदा हाफिज !

मैं मानता हूं कि मुझे दुख देने में ईश्वर का कुछ 'वस्टेड इंटरेस्ट' है क्योंकि मुझे दुख देकर वह बहुतों को एक साथ सुख दे सकता है। दूसरी बात यह है कि सतत अनवरत गर्दिशें कुछ इस कदर मेरे 41 वर्षों में आती रही हैं कि समझ नहीं पा रहा हूं क्या भूलूं और क्या याद करूं। दुख और सुख घुल मिल गए हैं जीवन काले और सफेद का एक मौजूं डिजाइन बन गया है जिसमें काले रंग के कारण ही डिज़ाइन उभरता है—अन्यथा जीवन सिर्फ सफेद और रंगहीन हो जाता। मिडिल-क्लासी सुख आते रहे हैं और भाग गए हैं। जीवन में नई गर्दिश आती है तब सब काशास में एक विचार कौंध जाता है कि शायद यह तो मैं पहले भी एक दफा जी चुका हूं। दुनिया के लोगों के लिए तक्लीफ याद दाश्त के कोने में से निकालकर सजा कर साफ सूफ करके फ्रेम करके दिखाने की एक चीज़ है एक सर्टिफिकेट है मेरे लिए तक्लीफ बीता हुआ कल नहीं है ऑक्सीजन की तरह सतत है, नई सांस की तरह नित्य पैदा होती है और गर्दिश में एक गुण है—तबीयत अच्छी रहती है। 'मैं खुशहाल हूं' वाक्य को अर्थ मिलता है।

लेकिन जीवन में एक एक बार ही आता है—प्रथम चुंबन या अंतिम सांस किशोरावस्था या 39वां वर्ष या छाती को घुटन फाड़कर फूटा हुआ प्रथम सफेद बाल। और जवानी नामक एक शब्द—जिसका मेरे लिए बिल्कुल आकर्षण नहीं है क्योंकि जीवन के अंतिमतम दिन तक वह मेरे साथ रहने वाला है। बीस वर्ष पूर्व शुरू हुई बहुत सारी समस्याएं सुलझ चुकी हैं फिर से नई बाजियां सजाई नई समस्याएं पैदा कर लीं क्योंकि बिना चिंता समस्या गर्दिश वालो यह जिन्दगी मेरा लक्ष्य कभी नहीं थी। और आज भी नहीं है।

22 वर्षों में 23 पुस्तकें लिखने के बाद मैं सोच रहा हूं, मेरे लेखन

मे गर्दिश का क्या हिस्सा है ? जीवन के रसायन म गर्दिश के दिन घुलत रहते हैं। आज बारहवा उपन्यास लिख रहा हू, अब तक मेरे प्रत्यक उपन्यास के नायक की उपाधि 'शाह' रही है। नायक की उम्र उस उपन्यास लिखत समय मेरी जो उम्र थी, वही रही है। नायक, सिवा दो एक अपवादो के, मेरी ही तरह नाटा, काना, चेहरे पर चेचक क दाग वाला रूक्ष, हमेशा हारने वाला, बिना बहन या पुत्र वाला, शरीफ बदमाश, अस्तित्ववादी, मार्क्सवादी, मास मद्य खाने-पीने वाला, गालिया बकने वाला, गुजरातियो की नपुसकता से नफरत करने वाला हिन्दी गुजराती अग्रेजी वाली मिश्रित भाषा बोलने वाला, धम म आस्था रखन वाला, शादी की सस्था मे श्रद्धा रखने वाला बारबार लाचार हो जाने वाला पुरुष बताया गया है। उसमे से चद्रकात बक्षी को नफी कर दिया जाए, और जो शेष रह जाए उसीमे से गर्दिश के दिन घटा दिए जाए तो शून्य रह जायगा।

प्रथम विश्वयुद्ध के समय—1919 के आसपास—मेरे पिता कल कत्ता मे स्थायी हुए थे और 1969 मे—पचास वष बाद मैंने कलकत्ता छोड दिया, जब मेरी उम्र 38 वष की थी। यह शहर हड्डियो के प्रवाही तक जा चुका है। गदा, बदसूरत कडवे तेल और हुगली के मटियाले पानी की बू वाला कलकत्ता मेरे शरीर मे स कभी निकल नही पाएगा। पितामह पुलिस के फौजदार थे पिता जौहरी थे, मैं प्रोफेसर हू —कुटुब की रस्म है हम बक्षियो की। हमारा इतिहास चौथे पुरुष को सिर सहन नही कर पाता, चौथे पुरुष का जन्म होता है, तब जिदा तीन पुरुषो म से एक को मारना पडता है—पिछले सौ वर्षों से इस तरह होता रहा है। अभी चार पुरुष जी भी रहे हैं और, मैं वहमो को नही मानता।

याद नही है कितना छोटा था, एक बार कलकत्ता से जन्मभूमि पालनपुर गया था। घर की पुरानी दीवारो पर पूवजो के चित्र थे। पुरुषो के चेहरे खूबसूरत लग रह थे और जवान। परिवार की स्त्रिया वृद्धाए थी। बडा हुआ, तब समझ पाया कि हमारे कुटुब म पुरुषो की

तस्वीरें खूबसूरत हैं, क्योंकि वे जवानी में मर जाते हैं। स्त्रियों
चेहरों पर झुर्रियां हैं, क्योंकि उन्हें तकलीफें झेलनी पड़ी हैं, पूरी ज़िन्दगी
छोटे छोटे लड़कों को आदमी बनाने की।

बहन नहीं है। कई वर्षों तक भाभी, काकी मामी मौसी में से कोई
नहीं था। 13 वर्ष की उम्र में ही एक भयंकर आघात आ गया और मैं
बालिग बन गया। पिता की मृत्यु। लड़कपन के दिन लड़कपन में ही
समाप्त हो गए। किशोरावस्था मैंने नहीं देखी। कुटुंब जीवन की शांत
स्वस्थ दुनिया छूट गई—धनिक से गरीब होने के दिन शुरू हो गए।
मनुष्य से कलाकार होने का तजुर्बा शुरू हुआ। समझ नहीं पा रहा हूं कि
कलकत्ता के बड़ा बाजार के व्यवसाय में छलकते घर में साहित्य की हवा
कहां से आ गई। निकट के या दूर के कोई भी परिचित स्वजन साहित्य-
कार नहीं हैं स्कूल में या घर में सही गुजराती भी नहीं बोली जाती थी
और हम एक ही परिवार के तीनों भाई (बड़े जौहरी हैं छोटा भाई० ए०
एम० है) नियमित और उच्च स्तर के कथा-लेखक हैं—गुजराती साहित्य
में ऐसा पहले कभी नहीं हुआ है।

जीवन में थोड़ा कायर होता तो मैं कुछ ज्यादा सफल हो जाता
भौतिक दृष्टि से। बहादुरी ने मेरा बहुत नुकसान किया है। आज सोचता
हूं तब लगता है कि दिमाग के अंदर की दीवार पर बहादुरी का 'स्टोनिंग
हो गया है जैसे पिछली उम्र में दांत के अंदर हो जाता है। और इस
स्टोनिंग का रंग तीव्र निराशा का है। मेरा निरंतर हंसते रहना मुझे
बहुत महंगा पड़ा है लोग मेरे दुख को भी नफरत और ईर्ष्या की दृष्टि
से देखते हैं। दुनिया ने मुझे 'विषाद योग' के शोक का अधिकार भी नहीं
दिया है। बहादुरी एक कवच बन गई है। बुद्धि के तंत्र में 'शाक एब्जार्बस'
नहीं रहे उसी की उलझनें आज भुगत रहा हूं। हमारी मशीन चाहे
जितनी भी अच्छी हो दुनिया ने हमारे लिए रास्ते इतने ऊबड़ खाबड़
बनाए हैं कि शाक एब्जार्बस न हो तो दौड़ नहीं सकते। और ट्रेजेडी
इस बात की है कि कलाकार के चित्ततंत्र में 'सीस्मोग्राफ की 'सेंसिटि-
विटी होती है, वहां 'शाक एब्जार्बस काम नहीं आते।

किसी भी एक स्कूल में लगातार तीन वर्ष पढ़ाई नहीं हुई है। कलकत्ता और उत्तर गुजरात का छोटा पालनपुर। द्वितीय विश्वयुद्ध आया, कलकत्ता से भागना पड़ा। फिर गए, फिर 1946 में कौमी दंगा हुआ, स्कूल बंद हो गए। फिर कलकत्ता छोड़ा, पालनपुर से स्कूल समाप्त किया। फिर से कलकत्ता—सेंट जेवियर्स कॉलेज। इंटर साइंस फर्स्ट क्लास में पास किया, नेवी में कमीशन की कोशिश की, आँखें खराब था। ऑस्ट्रेलिया चले जाना था, वहां के 'इमीग्रेशन मिनिस्टर' से पत्र-व्यवहार किया, उत्तर मिला—सिर्फ इंडोनेशिया के छात्रों को ही अभी लेते हैं। पूर्व अफ्रीका जाकर शिक्षक होने की सोची। 26 मील 385 गज की मैराथन दौड़ के लिए चार वर्ष लगातार 'प्रैक्टिस' की—और अनुभव से ज्ञान मिला कि होटलों में खाकर लगातार तीन घंटे दौड़ने से 'ऐथलीट' नहीं हुआ जा सकता। 'बी० एस-सी० विद एग्रीकल्चर' करके शिक्षित काश्तकार होने का विचार किया, हो नहीं पाया। बी० ए० 'डिस्टिंक्शन' के साथ पास किया, पूरी यूनिवर्सिटी में सिर्फ दस बारह लड़कों को 'डिस्टिंक्शन' मिला था—दृष्टि गई आई० ए० एस० की तरफ और यथार्थ ने 'अन एम्प्लॉयमेंट ब्यूरो' की कतार में खड़ा कर दिया, 'ब्लू कार्ड' लेकर चला आया। 'म्यूज़ियम' की लाइब्रेरी के लिए फ्रेंच सीखने का प्रयास किया—मासिक आठ रुपये तनख्वाह मिलने वाली थी, पार्ट टाइम सेवा के लिए। टाइपिंग की पहली लाइन सीख ली, फिर ख्याल आया जीवन में 'टाइपिस्ट नहीं बनूंगा। 'सॉलीसिटर' की फर्म में कुछ काम किया। ट्यूशनें, शेयर बाजार में सौदे जौहरी बाज़ार में छह महीने एक प्रिंटिंग प्रेस, सड़क पर रूमालों की बिक्री, मित्रों की गद्दियों में सोना हावड़ा स्टेशन की बेंचों का उपयोग रात को सोने के लिए। किस्मत का कुचक्र बड़ी तेज़ी से घूम चुका था, मुंह के कोना पर झाग उभर आए उतनी तेज़ी से। पिता के घर में द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने के पहले भी टेलीफोन था—बी० बी० 1082, और फर्स्ट क्लास में सफर किए थे। फिर भागा, बम्बई आया दवाओं के बाजार में काम किया साल भर—'सलफाडायज़ीन' के डिब्बे उठाकर म्यूनिसिपैलिटी के ऑफिस में डिलिवरी दे आने का। चरैवेति चरवेति—शास्त्रों में जो कहा है। फिर नासिक का मिलिटरी

स्कूल —स्क्वॉड ड्रिल और हॉर्स राइडिंग और एल० एम० जी० 'वस्ट-
वडट' का 'सर्टिफिकेट' छाती पर झुलाकर फिर कलकत्ते की सडको
पर— और लॉ कालेज। तीन वप का अभ्यासक्रम ढाई वप म समाप्त
करके फिर बम्बई वकालत करने के लिए। कहा गया था कि डिग्री लेकर
आ जा तेरा नाम 'बोर्ड' पर लिखा दूगा और महावार पाच सौ रुपय
तेरी आमदनी शुरू हो जाएगी। बम्बई म मिला—उपहास, सौजन्य,
स्मित। फिर वापसी—महानगर कलकत्ता म।
और फौजरी, चोरी फिर पलायनवाद। अगर कम्युनिज्म का रग
लगा न होता तो आत्महत्या कर ली होती। उस समय किसीने अगर
हाथ म राइफल थमा दी होती तो आखें बद करके पूरी दुनिया को 'शूट'
कर दिया होता। वारट निकलने वाला है—मित्रो ने कहा। और घरा
मे रस लिया। आखिर पहला घर बसाया—सोनागाछी म। सोनागाछी
कलकत्ते का मशहूर, बदनाम वेश्याओ का इलाका है। घर म पाच तिथि
जैन धम पालन वाले संस्कारी गुजराती परिवार का नबीरा आदमी हो
चुका था—मुर्गी लाकर काटकर पकाकर खाकर, हजम करना मै सीख
चुका था।

बाद मे बहुत घर बदले। जीवन मे कोई काम सीधा नही हुआ और
हमेशा पराजय ही मिलती रही है। हसते रहन के व्यसन के कारण जीवन
सह्य बना है और तबीयत चुस्त रही है। रेडीमेड कपडो का स्टोर खोला,
कुछ वर्षों चलाया। 1947 का वप कुछ नये कामो का गवाह है। पाच
मिनट मे पाच रुपय मे बम्बई म रजिस्ट्रार के कोट म एक अपरिचित
लडकी से शादी कर ली क्योकि वह अग्रेजी म झगड सकती थी। कुछ
'हेट एट फस्ट साइट' जैसा ही। और प्रथम उपन्यास का आरम्भ
किया—सोनागाछी के उसी फ्लैट मे। मुझे भय था कि मैं गुजराती
भाषा भूल जाऊगा। याद आ गया कि बी० ए० म गुजराती म 100 म
से 83 अक मिले थ। अपनी गुजराती जिदा रखन के लिए भी मुझे कुछ
लिखना चाहिए—और आत्मकथा का वजन भी कुछ असह्य सा हो चुका
था।

प्रथम कहानी लिखी। तब उम्र थी 10 वप। गुजराती को उस समय

की प्रमुख पत्रिका 'कुमार' मे छपी। उसी समय से आज तक आलोचक भौंकते रहे हैं मैं गालिया बकता रहा हू। उन्होंने मे से कुछेक बहुत समझदार लोग भी हैं। मेरी कृतियो की ज्यादातर आलोचनाओ का मूल्य मेरे लिए, व्यवहार किए गए 'सनिटरी टॉवेलो' मे ज्यादा नही है। खैर, आज तो यह हालत बनी हुई है कि बिना मेरा नाम लिए गुजराती कथा साहित्य की बात नही हो सकती। अकारण मैं चर्चास्पद हो जाता हू, क्योकि बडे मायालु शत्रुओ का एक काफिला मेरा ध्यान रखता है।

घर बदलते रहे। पहली बच्ची 'स्टिल-बार्न' होकर मर गई, दूसरी 'सीजरियन' से। फिर खाया पीया और राज किया और 1969 का वर्ष आया। 1957 मे जो घट चुका था, वही सब कुछ। फिर किस्मत का कुचक्र पराजय की हवा, और—

तू फिर आ गई गर्दिशे आसानी,
बडी मेहरबानी बडी मेहरबानी।

कलकत्ता छोड दिया, स्टोर बेच डाला, अहमदाबाद चला गया—यहूदी जिस अहसास से इजराइल जाता है वैसे ही अहसास के साथ। दो रोज म ही कौमी दगे भडक उठे, अठारह दिन 'कर्फ्यू' म सपरिवार फसा रहा। जीवन के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण निर्णयो की तरह मिनटो मे तय किया, बम्बई म स्थायी होना है। डेरा उठाया—चलो बम्बई। और कभी वर्षों पूर्व एक सनक आई थी और व्यवसाय करते-करते ही एम० ए० की डिग्री ले रखी थी, वह काम आ गई। इतिहास और राजनीतिशास्त्र के प्रोफेसर का कर्मयोग शुरू किया जो चल रहा है। बम्बई मे घर लिया, शाम को 'फाउटेन' से लौटते समय घर भूल गया—पुलिसवाले को अपने ही घर का पता बताकर पूछा। एक बार पहले भी इसी तरह कुछ हुआ था 'स्टीमर' से शराब पीकर टैक्सी म आ रहे थे और देर रात तक घर ढूढते रहे थे

इन्ही सबको ही कहते होंगे गर्दिश के दिन ?

मैंने आठ वर्षों तक—1948 से 1956 तक—लगातार रोजाना डायरी लिखी है। उसीमे देखता हू—गर्दिश का फैशन कितना बदला है।

गर्दिश मेरे लिए अभिमान की बातें करने की चीज नहीं है। अगले साल पहला 'दृश्योरेंस मेच्योर' हो जाएगा, और कर्ज वफादार साये की तरह साथ साथ ही रहता है। चार-पांच वर्ष पूर्व गुजरात सरकार ने एक तीसरे पारितोषिक का आधा हिस्सा फेंका था जिसका मैंने अस्वीकार किया था। चार यूनिवर्सिटियों में मेरी पुस्तकें एम० ए० पाठ्यक्रम में चलती हैं। बम्बई यूनिवर्सिटी में बी० ए० (स्पेशल) में गुजराती के प्रश्न पत्र में 20 अंकों का एक प्रश्न पूछा जाता है चंद्रकांत बक्षी का गुजराती कथा साहित्य में क्या योगदान है? आज मेरे सामने पांच कर्म चल रहे हैं। मेरी 11 वर्षीय पुत्री रीवा आज तक अलग अलग राज्यों के स्कूलों में चार भाषाएं पढ़ चुकी है, लेकिन गुजराती नहीं जानती। अंग्रेजी में लगडन वाली 'प्राफिस गर्ल' पत्नी का गुजराती प्यार आज पराकाष्ठा पर है। भौतिक सुख के साधन—घर पैसे, जेवर शेयर, जमीन—कुछ भी नहीं है। पर जीवन में आज जितना सुखी कुटुम्ब-जीवन है, उतना कभी नहीं था। स्त्रियां मेरे लिए समस्या कभी नहीं रहीं (एक स्त्री ने 'एग्रमेंट' होने पर भी अभियोग लगाया था), लेकिन मैं गर्दिश से गुजरा हुआ गुजरता हुआ, कलाकार हूं। आज प्रति वर्ष कालेज के प्रथम वर्ष में पांच सौ नई लड़कियां प्रवेश पाती हैं। सोचता हूं चार ही वर्ष में ये बच्चे संसार की भूलभुलैया में खो जाएंगे—और जब अकेला होता हूं, तब एक और विचार भी कौंध जाता है। मेरी पहली बच्ची अगर जीवित रही होती तो इसी तरह प्रथम वर्ष के किसी क्लास रूम में स्वप्निल आंखें चमकाती हुई बैठी होती

गर्दिश के कारण ही शायद कुछ विचित्रताएं आ गई हैं। मुझे बादामी-आसमानी रंगों से लगाव है, टर्किश की लाल हरी लाइटों के बीच वाली ऐंबर लाइट जैसा, जो हमेशा होशियार रहने की सूचना देती है। व्हिस्की बियर का रंग, टूटी ईंटों का खंडहरनुमा रंग, पुरानी तस्वीरों का फीका सेपिया रंग, सिकते हुए आटे का रंग, ताड़ के जंगल का रंग, जंगल का रंग, मधु के पराग का रंग—इस प्रकार के रंग विशेष रूप से पसंद हैं। गर्दिश का भी यही रंग होगा। पाइप के धुएं की ओर देखते हुए सोचता हूं कि पराजय के साथ जबरदस्त नाता रहा है। शायद ही

कभी कोई काम पूरा सीधा पार उतरा है, घुटन छिन जाने के बाद ही कदम आगे रख पाया हूं। पराजय ने मुझे एक अजीबो गरीब सर्गानी बख्शी है—पांच ही मिनटों में मैं मां बनता हूं। जीवन के लिए मुझे गुजराती शब्द 'गम्मत' व्यवहार करने की इच्छा होती है। 'गम' धातु से गम्मत बना है, अर्थ होता है तरफ की गति, मन का झुकाव, वह जाना आदि, लेकिन व्यवहार की भाषा में गम्मत का अर्थ होता है विनोद। खैर, गम्मत चल रही है। ईश्वर को मेरे दुःख में 'वैस्टेड इंटरेस्ट' है ही, वरना सिर्फ विधाता की नाकिन नहीं थी मेरे भाग्य में इतने पराजय लिखने की। एक दिन यह गम्मत रुक जाएगी। उस दिन सबेरे नेक की होगी, बूट पालिश से चमकते होंगे, बादल होंगे कुछ आकाश में, छुट्टी का दिन होगा और बच्चे नाचे कल्लोल करते होंगे—तभी राज यार दोस्त मेरे शरीर से चश्मा उतारे बिना श्मशान जाएंगे, तब आशा करता हूं कि एक नम्बर श्मशान पर मुझे अग्निदाह मिलेगा

आज साहित्यकार के नाते जिन गर्दिशों से मैं गुजर रहा हूं, लगता है कि अब टूटने में बहुत देर नहीं है। रूस में ही है सोल्झेनित्सिन भी यही है। गुजराती साहित्य से निराश हो गया हूं। मेरे साहित्य जीवन के सबसे बड़े पारितोषिक मिलने का मौका बहुत पास आ गया है—शायद दो वर्ष की जेल। शायद मुक्ति। शायद लिखना मैं बिल्कुल बंद कर दूंगा और अपने कुटुम्ब और मित्रों के साथ बैठकर बातें करूंगा—सत्यजित राय की, आचार्य रजनीश की महंगाई की रूट 84 की बस की अथवा गर्दिश के दिनों की। क्यों लिखा यह सब? किसके लिए? प्रथम विश्वयुद्ध में मृत्यु के पूर्व जवान अंग्रेज कवि रॉबर्ट ओवन ने लिखा था जो लोग कल्पना नहीं कर सकते वे सही मायने में सुखी होने चाहिए। भौतिक सुख बहुत आसान था पाना। मगर आसान चीजें ही दूर रह गई हैं। आसानी से सिवा गर्दिशों के कुछ नहीं मिला। नक्शे में तिब्बत की पृष्ठ भूमि पर पर्वतों का फैलाव उभरता देखता हूं और कल्पना करता हूं शायद यही मेरी जन्मकुंडली का चित्र है।

भीष्म साहनी

लगता है जिन्दगी का बहुत सा वक्त अर्द्धचेतन अवस्था में जीता रहा हूं। ऐसा नहीं लगता कि सचेत रूप में, आसपास की हर बात को समझते बूझते हुए आंखें खोलकर और बातों को तौल परख कर निर्णय लिए हों, कदम उठाए हों। मुड़कर देखता हूं तो यह भी लगता है कि हर बार संकट की स्थिति में मन पर जड़ता सी छा जाती रही है — भले ही वह बहन की मृत्यु रही हो या हिन्दू मुस्लिम दंगे रहे हों, या कोई और संकट। हर चोट या दर्द मैंने बहुत बाद में ही महसूस किया है उसका अर्थ और महत्त्व भी बहुत बाद में ही समझ पाया हूं। यह भी देखता हूं कि जिन्दगी में कई बार हल्के से झटके मन पर गहरा असर छोड़ गए हैं जबकि बड़ी बड़ी मुसीबतें कहीं कोई खरोंच तक नहीं छोड़ पाई हैं। या शायद मुझे ऐसा लगता है, अतीत के गुंझलों में से किसी सूत्र को पकड़ पाऊं जिसकी मदद से अपने को साफ साफ देख पाऊं, बड़ा कठिन काम है।

बचपन का माहौल अंधेरी गुफा जैसा लगता है। मैं अकसर बीमार रहता था, और उम्र खेल कूद से वंचित था, जो बचपन का अधिकार है। खाट पर पड़ा सरकती धूप को देखता रहता, गली में गुजरते फकीरों, भिखमंगों, खोमचे वालों की आवाजें सुनता रहता, सिरहाने के नीचे रखी रेजगारी की ढेरियां बनाता रहता था। मां की याद में सिर रखकर अपार सुख मिलता था। शाम के झुटपुटे में मां के मुंह से सुने कवित्त, गीत, कहानियां, जिनमें अकसर गहरा अवसाद भरा रहता था मेरे रोग के साथी थे। स्वस्थ हंसते खेलते लड़कों को ईर्ष्या की नजर से देखता था। तभी से ही शायद अन्य बालकों की तुलना में अपने को छोटा और असमर्थ समझने लगा था। और लोग स्वस्थ थे मैं बीमार था, और लोगों के चेहरे चमकते थे, मेरे चेहरे पर पीलिमा पुती रहती थी, और लोग तरह-

तरह के करतब कर सकते थे, मैं उन्हें केवल चकित आंखों से देख भर सकता था। गोरे चिट्टे दमकते चेहरों वाले, स्वस्थ तथा व्यवहार-कुशल व्यक्ति मुझे हीरो जैसे लगते थे, जो आत्मविश्वास के साथ हर काम सुभीते से कर जाते हैं।

पर मेरी निःसहायता मारा वक्त मेरे दिल को मथती रहती। अन्दर ही अन्दर मेरा धैर्य चुकने लगता। इसलिए जब बिस्तर पर से उठता तो भाग खड़ा होता। घर में से निकलते ही किसी तांगे के पीछे भागता और कूदकर पायदान पर चढ़ जाता। फिर तांगा सड़कें लांघता हुआ जाता और मैं एक सड़क से दूसरी सड़क, एक बाजार से दूसरे बाजार, पागलों की तरह आसपास के नजारे देखता हुआ जाने कहां से कहां जा पहुंचता था। उस दिन घर लौटता तो या तो फिर बिस्तर पर पड़ जाता या बुरी डांट खाता और मेरे घूमने फिरने पर बंदिश लग जाती।

इसके अतिरिक्त घर का माहौल एक खास तौर का माहौल था। इसमें ब्रह्मचारी की पीली धोती थी, चुटिया और यज्ञोपवीत थे, हवन सन्ध्या और उपदेश थे और आर्यसमाज का साप्ताहिक सत्संग था। यहां मांस खाना निषिद्ध था, स्त्री की ओर आंख उठाकर देखना निषिद्ध था, उपन्यास पढ़ना, फिल्म देखना निषिद्ध था।

स्कूल छोड़ने पर एक ऐसे व्यक्ति से साक्षात्कार हुआ जिसने मेरी दुनिया बदल दी। वह भी गोरा चिट्टा स्वस्थ, सौम्य सुन्दर व्यक्ति था। कॉलेज के पहले वर्षों में वह मेरा अंग्रेजी का अध्यापक था। इस आदमी ने मुझे उस दकियानूसी, संकीर्ण, घुटन भरे वातावरण में से खींचकर बाहर निकाल लिया। यों तो घर में मेरे बड़े भाई का संपर्क भी उसी ओर उन्मुख रहा था, पर यह आदमी उम्र में बड़ा था, और उसका व्यक्तित्व बहुत ही प्रभावशाली था। उसे साहित्य से गहरा प्रेम था, और उसका अपना व्यक्तित्व बहुत ही निखरा निखरा और आकर्षक था।

जब वह पढ़ाने आता तो हम छात्र उसके 'डेस्क' पर गुलाब के फूल चुनकर रख देते। कविता के मर्म समझाने में इसे विशेष रुचि थी। तभी शैली और कीट्स पढ़ने को मिले, ड्यूमा और विक्टर ह्यूगो के उपन्यास, तभी फिल्में देखने लगा, रंगमंच पर नाटक देखने लगा, सिर पर बाल

रखने और पतलून पहनने लगा। अब सोचता हूं तो वह उस पीढ़ी का उदारवादी व्यक्ति लगता था जो अंग्रेज़ी साहित्य से प्रभावित होकर मध्ययुगीन संस्कारों से स्वयं निकलकर अपने छात्रों को भी निकालना चाहता था। उन दिनों उसका एक एक शब्द मेरे लिए वेदवाक्य था। उसीके प्रभावाधीन मैं साहित्य रचना में कलम आज़माई करने लगा था।

पर यह व्यक्ति विद्रोही स्वभाव का नहीं था। इसका अटूट विश्वास हर बात में बीच का रास्ता अपनाने में था, शायद इसी कारण वह छात्रों के मां बाप के बीच भी उतना ही लोकप्रिय था, जितना छात्रों में, जो कि वास्तव में एक बहुत बड़ा विरोधाभास होता है।

उन्हीं दिनों एक और तूफान उठ रहा था और उसके दबाव के नीचे हमारे छोटे से शहर की दीवारें हिलने लगी थीं। आज़ादी का आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा था, और छात्र छोटे छोटे, कागज़ के बने, 'यूनियन जैक' जूतों की नोक पर लगाए घूमने लगे थे। भगत सिंह को फांसी पर चढ़ाया जा चुका था और लड़कों के दिलों में वलवले उठने लगे थे। मेरे अध्यापक की सहानुभूति देशभक्तों के साथ थी। लेकिन आन्दोलन में कूद जाने का उनका स्वभाव नहीं था। चुनांचे उनकी देखा-देखी उनके छात्र भी इस आन्दोलन के दर्शक ही बने रहे।

इस बीच बी० ए० और एम० ए० की पढ़ाई करने मैं लाहौर चला गया। वहां कालेज में चारों ओर अंग्रेज़ियत का बोलबाला था। सभी लड़के कालेज छोड़कर बड़े बड़े सरकारी अफसर बनने के सपने देखते थे। बाहर होने वाले आन्दोलन की आवाज़ तक यहां नहीं पहुंच पाती थी।

बादशाह सलामत जार्ज पंचम, नये साल की रात को साम्राज्य के नाम नव वर्ष का सन्देश रेडियो पर देते थे। मैं और गवर्नमेंट कॉलेज के मेरे साथी सुबह तीन बजे रेडियो के सिरहाने बैठे उनका भाषण सुनते। जब एडवर्ड ने श्रीमती सिम्पसन से विवाह करने का प्रस्ताव रखा और उन्हें राज-त्याग करना पड़ा, तो मैं और मेरे साथी बेहद उत्तेजित घूमते थे, पढ़ाई में मन ही नहीं लगता था, चारों ओर इस आदर्श प्रेम की ही चर्चा चलती रहती। मैं एक दूसरे प्रकार के दायरे में जा पहुंचा था, जो देश के जीवन से कटा हुआ था।

अपने शहर लौटने पर माहौल बहुत कुछ बदला हुआ पाया। दूसरे विश्वयुद्ध के बादल घिरने लगे थे, और देश में राजनीतिक हलचल तेज होती जा रही थी। मैं अभी अपने अध्यापक के चरणचिह्नों पर चल रहा था, हालांकि परिस्थितियां मुझपर तरह-तरह के दबाव डालने लगी थीं। देश के बदलते माहौल से भी मैं अछूता नहीं रह गया था। एक अवसर याद आता है, मैं और मेरा अध्यापक कंटोनमेंट में एक दिन सैर कर रहे थे। देर तक घूमते रहने के बाद एक रेस्तरां में चाय पीने बैठ गए। रेस्तरां गोरे फौजियों से खचाखच भरा था। रेस्तरां का मालिक कोई चीनी व्यक्ति था, जिसे पसीना पोंछने की फुर्सत नहीं थी। लगभग आधे घंटे तक हम चाय का इन्तजार करते रहे, हमें चाय नहीं मिली, जबकि बाद में आने वाले अनेक गोरे फौजियों को 'सर्व' किया जा चुका था। यह स्पष्टतः जातिभेद था। हम ही दो हिन्दुस्तानी रेस्तरां में बैठे थे। एक बार जब चीनी मालिक पास से गुजरा तो मैंने उससे चाय लाने का आग्रह किया तो उसने बड़ी रुखाई से 'नो टी, नो टी!' कहा और बड़बड़ाता हुआ दूसरी ओर चला गया। मुझे आग लग गई। अपने ही शहर में हमारे साथ यह सुलूक हो! मुझे यह असह्य लगा। मैं उठकर चीनी मालिक के पास जाने ही वाला था कि मेरे अध्यापक ने मुझे रोक दिया और मुझे पकड़कर बाहर ले गया।

—यह उसका रेस्तरां है, हमारा नहीं है, उसका अधिकार है कि किसे 'सर्व' करे और किसे न करे।

मैं अपने अध्यापक के चेहरे की ओर देखता रह गया। उससे मुझे इस तर्क की आशा नहीं थी। फिर वह कहने लगा—मैं छोटी सी बात पर बखेड़ा खड़ा करना ठीक नहीं समझता।

मैं चुपचाप उसके साथ वहां से चला आया। वे दिन ऐसे थे कि अन्य शहरों में लोग जान पर खेल रहे थे, मेरी भी स्वभावगत भीरुता टूटने लगी थी। मैं चुपचाप उसके साथ-साथ घर लौट आया पर पहली बार मुझे उसकी उदारवादी वृत्ति अखरने लगी।

इसके बाद हमारे बीच बहसें होने लगीं, दो-एक बार झड़पें भी हुईं। एक दूसरे के नजदीक रहते हुए भी हम एक-दूसरे से दूर होने लगे। यह

पीढ़ियो के अतर की ही स्थिति थी। पर नई पीढ़ी, पुरानी पीढ़ी से अलग होते हुए भी उसकी ऋणी होती है। उस व्यक्ति ने मेरी जिदगी मे कभी एक खिड़की खोली थी जिसमे से भरपूर रोशनी अन्दर आई थी। वह शायद अनजाने मे ही मुझे कुछ दे गया था।

लेकिन वास्तव मे वह मुझे क्या दे गया था ? मनुष्य का सवेदन अपने परिवेश मे से कौन से सस्कार आत्मसात करता है कौन सी बातें उसे अछूता छोड़ देती हैं कहना अत्यत कठिन है। सस्कारो की दुनिया इतनी पचीदा, इतनी दुर्बोध होती है। सब कुछ कहते हुए भी मैं अपने को कह नहीं पाता। मेरे अध्यापक ने मुझे क्या दिया ? साहित्य प्रेम ? उदारवादी मनोवृत्ति ? किनारे किनारे चलने की प्रवृत्ति ? कहा से क्या मिला, इसका विश्लेषण निरर्थक प्रयास है।

कालेज मे अध्यापन के साथ साथ मैं व्यापार करने लगा था। यह व्यापार मुख्यत कपड़े का था। मेरे पिताजी के पास विभिन्न कारखानो की एजेंसिया थी हम कपड़े के व्यापारियो से आर्डर लेकर कारखानदारो को भेजते और माल आ जाने पर हमे कमीशन मिलता था। सीधा सा काम था। मुझसे पहले मेरे भाई दो तीन बरस तक यह व्यापार कर चुके थे और जब मैंने इसमे हाथ डाला तो भाई शातिनिकेतन मे पहुच चुके थे। पर व्यापार का अनुभव बड़ा अनूठा और विकट साबित हुआ।

एम० ए० पास करने के बाद एजेंसी के काम की दुश्वारिया वही जानता है जिसने यह काम करके देखा है। मै ऐसे कॉलिज से पढ़कर लौटा था जहा अग्रेज़ियत का माहौल था, अधिकाश लड़के सरकारी अफसर बनने के सपने देखते थे। व्यापार के व्यवसाय के लिए इस प्रकार की शिक्षा बहुत बड़ी रुकावट थी। मुझे यह विचार सताता तो नही था लेकिन मेरे अवचेतन मे था ज़रूर। मैंने बड़े उत्साह के साथ काम शुरू किया लेकिन दिमाग पर साहित्य के अतिरिक्त गाधीवादी विचारो का भी रग चढ़ा हुआ था। मैं नमूनो का बक्सा उठाए किसी दुकान के चबूतरे पर जा पहुचता। दुकानदार यदि ग्राहको के साथ व्यस्त होता तो आख उठाकर देखता भी नही व्यस्त नही होता तो दुआ सलाम हो जाती। कभी-

कभी सोडावाटर की बोतल भी पिला देता, लेकिन इसके बाद मेरे अस्तित्व को भूल जाता। कभी अपनी बहियां बांचता, कभी दोपहर का वक्त होता तो मेरे बैठे बैठे लम्बी तानकर सो जाता। दो तीन घण्टे बाद वह बड़े अनमने ढंग से मुझे बक्सा खोलने को कहता। कभी ऑर्डर मिलता, कभी नहीं। सारे बाजार का यही आलम था। मैं दिन बीतते बीतते खिन्न और क्षुब्ध हो उठता।

सबसे तल्ख तजुर्बा लाहौर में हुआ, और मैं वहां से परेशान होकर लौटा। अब सोचता हूं तो लाहौर में नमूनों का बक्सा उठाकर ले जाना ही भूल थी। लाहौर में मेरे लड़कपन के दिन बीते थे। जिस माल रोड पर मैं दोस्तों के साथ कभी शैली और कीट्स पर बहसें करता घूमता था, ड्रामा और डिबेटों में भाग लेने जाया करता था, उसी माल रोड पर मैं मजदूर के सिर पर नमूनों का बक्सा उठवाए दुकान दुकान ऑर्डर लेने जा रहा था। बहुत बड़ा परिवर्तन था। यों तो हमारा सामाजिक वातावरण अभी तक नहीं बदला, एक तरह से हम अभी भी औपनिवेशिक भारत में जी रहे हैं जिसमें सरकारी नौकरी की इज्जत है बाकी सब काम निचले स्तर पर हैं, अपने काम में किसी को गर्व नहीं सभी एक दूसरे से बगलें झांकते घूमते हैं पर अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० करने के बाद एजेंसी का काम करना सचमुच बड़ा कठिन था। आखिर एक जगह पर मेरी सहनशीलता चुक गई।

माल रोड पर सिन्धियों की एक बहुत बड़ी दुकान थी। मैंने पत्र द्वारा उनके साथ समय निश्चित किया था और ऐन दस बजे नमूने लेकर पहुंच गया। मैंने दुकान का ठाठ बाट देखा तो अंग्रेजी में बात चलाई। सेठ ने कहा कि बक्सा रख दो हम बारह बजे नमूने देखेंगे। मेरे लिए इस तरह का उत्तर नया नहीं था। मैंने बक्सा रखा और सड़कें नापने बाहर निकल गया। बारह बजे लौटा तो दुकान का मालिक मौजूद न था। मैंने इसरार किया तो एक कारिंदे ने समझाया कि नमूने तो हम भी देख सकते हैं लेकिन ऑर्डर तो सेठ जी ही देंगे, तुम चार बजे आ जाओ। मैं फिर मन मारकर दुकान में से बाहर निकल आया। और बजाए सड़कें नापने के मैंने कॉफी हाउस की राह ली, उसी कॉफी हाउस की जहां यारों के साथ

घण्टो बैठा बतियाया करता था। वहा जाना बहुत बडी भूल थी। काफी हाउस म घुसते ही मैं अपने को अजनबी महसूस करने लगा। वहा पर पहले जैसी ही चहल पहल थी, दो एक पुराने दोस्त भी मिले, पर मेरा मन ऐसा बुझा कि मुह से बात नही निकली। सहसा सब कुछ ही मर लिए पराया हो गया था। मेरा गला रुध रुध गया। इसपर जब चार बजे दुकान पर लौटा तो सेठ बिगडकर बोला—देख लेंगे देख लेंगे, तुम तो पीछे ही पड गए हो। मैं भभक उठा। जो मन म आया कहा और सब अग्रेजी म कहा पर मेरी बौखलाहट का सेठ पर इतना ही असर हुआ कि उसने मेरा बक्सा उठवाकर दुकान के बाहर रखवा दिया। मैंने तैश म नीचे उतरकर एक तागा बुलाया और उसी तरह अग्रेजी बोलता झाग उगलता ताग पर बक्सा रखकर वहा स चलने लगा। एक बार मुडकर देखा तो सेठ और उसके कारिंदे चबूतर पर खडे हस रहे थे।

—'कमीशन एजेंट भी तेवर दिखाने लगे हैं। पर जल्दी ही सीधा हो जाएगा, अभी अभी पढकर निकला है'

उसी रात की गाडी पकडकर मैं लाहौर से चला आया।

मैं व्यापार के लिए नाकारा साबित हो रहा था। दिन प्रतिदिन वह मेरी छाती का बोझ बनता जा रहा था। एम० ए० की तालीम ही नही, तरह तरह के मानसिक गुफल मेरे रास्त के रोडे बन रहे थे। इनम से एक मेरा आदर्शवाद भी था। न जाने कहा स यह विचार मेरे मन म समा गया था कि मैं 'कमीशन एजेंट' हू और मुझे कमीशन स ही सतुष्ट रहना चाहिए। न जाने गाधीवादी विचारधारा का असर था या क्या था मुनाफा कमाना, स्वय माल खरीदकर मुनाफे पर बचना, मुझे मजूर न था। जहा और दुकानदार मेरे द्वारा माल खरीदकर मुनाफ पर बेचते थ, वहा मैं स्वय केवल आर्डर ही बुक करता फिरता था। यो तो मेरे पिताजी भी कमीशन पर ही काम करते रहे थे मगर वह जमाना दूसरा था।

दूसरा विश्वयुद्ध छिडने की देर थी कि बाजार तेज होने लगा। अगर मैं पाच आने गज पर आर्डर बुक करता तो आर्डर की मजूरी आते आते दाम बढकर छह आने हो जाता। एक एक गाठ पर लोग सैकडो कमा रहे थे। मुझे व्यापारी तब कहते कि जहा पचास गाठें दुकानदारो के लिए

बुक करते हो, वहा दस गाठें अपने लिए भी बुक कर लिया करो। पर मैं ईमानदार बना घूमता था। साधन और साध्य का तालमेल बैठा रहा था। खैर उन्ही दिनो एक और घटना घटी। जग छिड जाने पर सरकार ने गर्म कपडे पर भी कट्रोल कर लिया और हर शहर म दो-दो, तीन तीन अधिकृत विक्रेता मुकरर कर दिए। हम भी दिल्ली से चिटठी आई कि आकर टेक्सटाइल कट्रोलर' से मिलो। मैं उसी रात गाडी मे बठा और दिल्ली जा पहुचा। 'कट्रोलर' की कुर्सी पर एक बगाली सज्जन बैठे थे। बडे आदर से मिले। उन्होने बताया कि हम तुम्हारे शहर म तीन विक्रेता नियुक्त करेंगे और उनमे से तुम एक होगे। कल सुबह आ जाओ और करारनामे आदि पर दस्तखत कर जाओ। मेरी बाछें खिल गइ। उसी शाम एक सज्जन मुझसे मिलने मेरे होटल पर पधारे। वह मेरी जान पहचान के निकले, दूर पार के रिश्तदार भी थे। मैं हैरान था कि उन्हे मेरा पता कसे मालूम हुआ और मुझसे मिलने क्योकर चले आए। बैठते ही कहने लगे—बगाली बाबू दस हजार मागता है। यह रकम बहुत नही है। तुम घर पर तार देकर इसका इतजाम कर दो।

मैं भौचक्का सा उनके चेहरे की ओर देखने लगा। यह काम तो मैं हरगिज करने के लिए तैयार नही था। मुनाफे पर काम इतने दिन नही किया तो क्या अब रिश्वत देने जाऊगा? और फिर मेरा नाम 'लिस्ट' पर है यह इनकार कर ही कसे सकता है?

मने इनकार कर दिया। अब की बार वह भौंचक्का सा मेरे चेहरे की ओर देखने लगे।

—तुम्हारा दिमाग ठिकाने है या नही? उन्होने कहा। उसका हाथ गर्म नही कराओगे तो तुम्हे 'एजेंसी मिल जाएगी? किस दुनिया म रहते हो?'

वह देर तक मुझे समझाते रहे, पर मैंने एक नही मानी।

दूसरे दिन मिलने गया तो बगाली अफसर ने मिलने म इनकार कर दिया। लच के बाद फिर अदर नाम भेजा तो उसने अदर बुला लिया। पहले की ही भाति वह आदर से मिला और बोला कि आप निश्चित रहें नियुक्ति की चिटठी आपको अपने घर पर मिल जाएगी।

मैं चला आया, सतुष्ट था कि काम हो गया। पर वह दिन गया और

यह दिन ग्राया, चिट्ठी ग्राज तक नहीं मिली।

पर इसका मुझे खेद हो रहा हो ऐसी बात नहीं थी। मैं किसी दूसरी दुनिया में जी रहा था। वास्तव में मैं खाते पीते परिवार से था चलते व्यापार में दाखिल हुआ था पिताजी सिर पर थे मैं ग्रादर्शों से खेल सकता था। ग्रगर गरीबी में जिन्दगी शुरू की होती तो जरूरत सब बल निकाल देती।

घर लौटकर मैंने पिताजी को किस्सा सुनाया तो वे चुप हो गए। मुझे कहते भी क्या कि रिश्वत देकर क्यों नहीं ग्राए ? पर उनका मौन ही मानो कह रहा था बड़ा बेटा पहले ही व्यापार छोड़कर शान्तिनिकेतन जा बैठा है ग्रब दूसरा ग्रक्ल का ऐसा धनी निकला है कि मिला हुग्रा काम फेंक ग्राया है। मुझे विश्वास है उस दिन पिताजी ने भी व्यापारियों की सूची में से मेरा नाम वैसे ही काट दिया होगा जैसे बंगाली बाबू ने काट दिया था।

पिताजी का रवैया मेरे प्रति कुछ कुछ बदलने लगा। इससे पहले जब भी मुझे कोई उपन्यास पढ़ते या कुछ लिखते पढ़ते देखते तो हल्की सी झिड़की के साथ उठा देते—जाग्रो काम धन्धे फिरो किताब लेकर बैठ गए हो। तुमने बहुत किताबें पढ़ ली हैं। पर ग्रब उन्होंने कहना छोड़ दिया। दिन भर बाजार में झक मारने के बाद घर लौटते ही मैं कोई किताब लेकर बैठ जाता था। इससे मुझे गहरी तसकीन मिलती। मुझे लगता था कि जिस दुनिया से धकेलकर बाहर निकाल दिया गया था उसमें ग्रब भी लौट सकता हूं। किताबों के लिए एक उत्तेजित-सी भूख मेरे ग्रन्दर पैदा होने लगी थी। यह साहित्य में एम० ए० पास करके व्यापार करने का नतीजा था।

उन्हीं दिनों एक ग्रौर भावना परेशान करने लगी थी। 1942 का ग्रान्दोलन शुरू हो चुका था ग्रौर ग्रखबारों की खबरें बेहद उत्तेजित करने वाली थीं। बम्बई में प्रस्ताव पास होने के बाद जब नेताग्रों को गिरफ्तार कर लिया गया तो सारे देश में जैसे भूचाल ग्रा गया था। मेरे दिल में कांग्रेस के नेताग्रों के प्रति ग्रगाध श्रद्धा थी। नेहरू जी ग्रब भी कभी शहर

मे आते, मैं एक बार नहीं, तीन तीन बार, मीलों भागकर उन्हें देखने जाता। गांधीजी को सेवाग्राम में बहुत निकट से देख चुका था। उनमें दो बातें भी कर चुका था। मेरे जैसे लाखों-लाख युवकों के दिल इस आन्दोलन के साथ धड़कते थे। आन्दोलन शुरू होने की देर थी कि हमारे शहर में भी पकड़ धकड़ शुरू हो गई। मेरे लिए चुपचाप घर पर बैठना असम्भव हो रहा था। मैं और तो कुछ नहीं कर पाया—मैंने खादी पहनना शुरू कर दिया। खादी का कुर्ता पाजामा पहन मैं सड़कों पर घूमता, अन्दर ही अन्दर इस उम्मीद से कि पुलिस वाले इसीको मेरा विद्रोह मानकर मुझे गिरफ्तार कर लेंगे। मुझे किसीने नहीं पकड़ा और मेरा आन्दोलन खादी का बाना पहनने तक ही सीमित रहा। मुझे इसी बात से थोड़ा बहुत संताप मिलने लगा था कि व्यवहार के स्तर पर नहीं तो भावना के स्तर पर तो मैं जरूर उन लोगों के साथ जुड़ गया हूं, जो देश की आजादी के लिए अपनी जान पर खेल रहे हैं।

और जब मतला साफ हुआ, जंग खत्म हुई कांग्रेस के दफ्तर फिर से खुलने लगे, तो मैं सीधे कांग्रेस में अपना नाम लिखा आया और सक्रिय रूप से कांग्रेस का काम करने लगा।

दिन बीतने लगे। उन दिनों मैं एक ही समय में तीन तीन काम कर रहा था। कॉलिज में 'ऑनरेरी' तौर पर पढ़ाता और ट्रामें खेलता बाजार में व्यापार करता और साथ में कांग्रेस का काम।

मार्क्सवादी विचारधारा की ओर रुझान भी उन्हीं दिनों हुआ। दूसरे विश्वयुद्ध के दिनों में रजनी पाम दत्त की एक पुस्तक 'राइज ऑफ नेशनल सोशलिज्म इन यूरोप' मेरे हाथ लगी, जिसमें यूरोप में उठने वाली फासिस्ट ताकतों का गहरा विवेचन था। यह दृष्टि मेरे लिए बिल्कुल नई थी। युद्ध की विभीषिका पाम दत्त के विश्लेषण को पग पग पर सही साबित कर रही थी। इसके बाद अनेक अन्य पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। मेरे एक सह अध्यापक और मित्र कम्युनिस्ट कार्यकर्ता थे। उस आदमी के अथक निःस्वार्थ परिश्रम सुलझी हुई दृष्टि और गहरी निष्ठा ने भी बड़ा प्रभावित किया। साम्प्रदायिक दंगों के दिनों में वह और उसके गिने चुने साथी जान जोखिम में डालकर दंगों को रोकते रहे थे।

गुरुजी के दिन आए। देश के बटवारे से पहले हमारे शहर और आसपास के गांवों में भारी फसाद हुए। फिर मेरे दिल और दिमाग पर कुहासा छा गई और मैं कठपुतली की तरह इधर से उधर घूमने लगा। दंगे तो शुरू से ही, पर ज्यादा विकराल बात यह थी कि उनपर किसीका बस न था। गुरुजी के फौरन ही बाद जब लोग गांवों से भाग भाग कर शहर में आने लगे तो मैं रिलीफ कमेटी के आंकड़े इकट्ठे करने का काम कर रहा था। कहां पर किस रात को किसका घर जला, कितना माली नुकसान हुआ। गांव गांव से आए लोगों की आपबीती सुनता और रजिस्टर में दर्ज करता जाता। मेरी निजी भावनाओं पर किसी बात का असर नहीं हो रहा था। इसी मनःस्थिति में मैं एक दिन उस कुएं के किनारे भी खड़ा था, जिसमें एक गांव की स्त्रियां अपने छोटे छोटे बच्चों को लेकर कूद मरी थीं। लाशें फूलकर सतह तक आ गई थीं और कुएं की जगत के आसपास खड़े उनके पति और सम्बन्धी उन्हें पहचानने की कोशिश कर रहे थे

जब जब मन जड़ हो जाता है, तो अन्दर ही अन्दर कुछ टूटता है कोई धारणा कोई विश्वास, न जाने क्या। उसकी आवाज नहीं आती दर्द भी महसूस नहीं होता। लेकिन कुछ टूटता जरूर है।

घटनाओं, परिस्थितियों का ब्योरा बड़े तर्कसंगत ढंग से पेश किया जाता है जबकि अवचेतन की दुनिया के साथ इनका दूर पार का ही सम्बन्ध होता है। असल काम तो वहां होने जाते हैं। जब कोई घटना अव-चेतन में अपनी छाप छोड़ गई, कोई याद उसकी गहरी परतों में उतर गई, सब अनजाने में हो जाता है। उसे पकड़ने की कोशिश भी करो तो धुंधले बिम्ब ही हाथ लगते हैं स्टेज पर रोशनी के वृत्त में नाचती हुई नर्तकी, जो सहसा बिगड़ उठी है, क्योंकि किसी दर्शक ने स्टेज पर एक पैसा फेंक दिया है घर के बाहर भीड़ है, लोगों ने रस्से के साथ किसी आदमी को बांध रखा है और बांधने वाली रस्सी को यहां तक कसते जा रहे हैं कि उस आदमी की आंखें निकल आई हैं। कांग्रेस के जलसे में मंच पर खड़ा एक दुबला पतला आदमी हाथ उठाए

चिल्ला रहा है, देखो, मैंने नमक का कानून तोड़ा है, मेरे हाथ म नमक की पुड़िया है, इसे मैंन स्वय बनाया है, और एक ग्रार स पुलिस के सिपाही और अफसर ग्राकर उसे घेर लेते हैं और उस पुलिस-गाड़ी म धकेल देते हैं। वह ग्रभी भी चिल्लाए जा रहा है 'भारत माता की जय ! महात्मा गाधी की जय '

तरह-तरह की यादें, ग्रनगिनत ग्रधूरे चित्र। इन्हीं ग्रधूरे चित्रा सस्कारा, ग्रनुभवो की पूजी लेकर मैं साहित्य की दहलीज पर ग्रा खड़ा हुग्रा था। शायद सभी ऐस लोग जो परिस्थितियो द्वारा धकेले जात हैं जो व्यवहार की दुनिया म निकम्मे साबित होत हैं, ग्रपने ग्ररमान पूरे करने के लिए साहित्य का दरवाजा खटखटाते हैं।

घर मे साहित्यिक वातावरण पहले स था। पिताजी शेख सादी के प्रेमी थे मा के पास कहानियो, गीता, लोकोक्तियो का खजाना था। इसके ग्रतिरिक्त बड़े भाई कॉलेज के दिनो स ग्रग्रेजी मे ग्रौर कॉलेज के बाद हिन्दी मे बाकायदा लिखने लगे थे। व्यापार के सिलसिले म कानपुर जात समय मैं ग्रक्सर दिल्ली मे रुका करता था। मेरी बुग्रा की बेटी, श्रीमती सत्यवती मलिक का घर साहित्यिक केन्द्र सा बना हुआ था। यही पर उन्ही दिना ग्रनेक रचनाए पढन को मिली। जैनेन्द्र जी के उपन्यास त्यागपत्र' की उन दिनो धूम थी। तभी 'ग्रज्ञेय की कुछेक कहानिया, विशेषकर कोठरी की बात पढ गया। दोना रचनाग्रो म छिपा गहरा दद देर तक उद्वेलित करता रहा। उन्ही दिनो सफर म ही पहली बार गोदान पढने को मिली। 'गोदान समूचे देश की कहानी थी उसमे देश के दिल की धड़कन थी। उसे पढना एक विलक्षण ग्रनुभव था। उसे पढ चुकने के बाद हर ग्रधेड किसान मुझे होरी नजर ग्राता था, जिसकी समस्याग्रो को मैं जानता था जिसके दद को महसूस कर चुका था। प्रेमचन्द की दृष्टि मे एक विशालता थी जिसने बेहद प्रभावित किया। उन्ही दिनो यशपाल के दो कहानी सग्रह पिंजरे की उड़ान' ग्रौर 'ज्ञानदान' को भी बड़े ग्राग्रह से पढ गया।

इस तरह धीरे धीरे मैं इस क्षेत्र की ग्रोर खिचता चला गया। उन दिनो 'विशाल भारत' ग्रौर हस' हिन्दी के प्रमुख पत्र माने जात थे।

उनमें अपने लेख आदि भेजने लगा। फिर भी साहित्यिक काम छिट पुट ही रहा है। बटवारे के बाद जब अपना शहर छोड़कर दिल्ली को अपना घर बनाया तो अधिक नियमित रूप से लिखने लगा।

साहित्य के क्षेत्र में भी मेरे अनुभव वैसे ही सपाट और सीधे-सादे ही रहे जैसे जीवन में। मैं समझता हूँ अपने से अलग साहित्य नाम की कोई चीज भी नहीं होती। जैसा मैं हूँ, वैसी ही मैं रचनाएँ भी रच पाऊँगा। मेरे संस्कार, मेरे अनुभव, मेरा व्यक्तित्व, मेरी दृष्टि सभी मिलकर रचना की सृष्टि करते हैं। इनमें से एक भी झूठी हो तो सारी रचना झूठी पड़ जाती है। यह बहस भी मेरे लिए निराधार ही है कि साहित्यिक रचना विचारों की वाहक होती है या नहीं। प्रत्येक रचना, मेरी समझ में, एक इकाई होती है, सश्लिष्ट और अटूट, जिसमें से कुछ भी अलग नहीं किया जा सकता। न विचार, न शिल्प, न शब्द। सभी के सामंजस्य से ही उसका अस्तित्व बनता है। इनमें न कोई साध्य होता है न साधन। पर यह इकाई मूलतः जीवन की धार में से निकलकर आती है, भले ही लेखक के संवेदन के माध्यम से आए, इसलिए जीवन की ही बात कहती है। जो रचना मात्र लेखक के मस्तिष्क की उपज हो, वह अक्सर अधमरी रचना होती है, भले ही लेखक शिल्प और शब्दों का लम्बा चौड़ा ताना बाना बुन रहा हो। लेखक का अपना सत्य जीवन के सत्य से निराला नहीं होता। न ही जीवन का सत्य और लेखक का सत्य दो अलग अलग सत्य होते हैं। एक ही सत्य होता है और वह जीवन का सत्य होता है। उसीको साहित्य वाणी देता है।

हरिशंकर परसाई

लिखने बैठ गया हूं पर नहीं जानता संपादक की मंशा क्या है और पाठक क्या चाहते हैं। क्या आखिर वे उन दिनों में झांकना चाहते हैं, जो लेखन के अपने हैं और जिनपर शायद वह परदा डाल चुका है। अपने गर्दिश के दिनों को, जो मेरे नामधारी एक आदमी के थे, मैं किस हैसियत से फिर जीऊं ?—उस आदमी की हैसियत से या लेखक की हैसियत से ? लेखक की हैसियत से गर्दिश को फिर जी लेने और अभिव्यक्त कर देने में मनुष्य और लेखक, दोनों की मुक्ति है। इसमें मैं कोई भोक्ता और 'सर्जक' की नि:संगता की बात नहीं दुहरा रहा हूं। पर गर्दिश को फिर याद करने, उसे जीने में दारुण कष्ट है। समय के सींगों को मैंने मोड़ दिया था। अब फिर उन सींगों को सीधा करके कहूं—आ बैल, मुझे मार।

गर्दिश कभी थी, अब नहीं है, आगे नहीं होगी—यह गलत है। गर्दिश का सिलसिला बदस्तूर है। मैं निहायत बेचैन मन का घोर संवेदनशील आदमी हूं। मुझे चैन कभी मिल ही नहीं सकता। इसलिए गर्दिश नियति है।

हां याद बहुत है। पाठक को शायद इसमें दिलचस्पी हो कि यह जो हरिशंकर परसाई नाम का आदमी है, जो हंसता है, जिसमें मस्ती है, जो ऐसा तीखा है, कटु है—इसकी अपनी जिंदगी कैसी रही है ? यह कब गिरा, फिर कब उठा ? कैसे टूटा ? कैसे फिर से जुड़ा ? यह एक निहायत कटु, निर्मम और धोबीपछाड़ आदमी है।

संयोग कि बचपन की सबसे तीखी याद 'प्लेग' की है। 1936 या 37 होगा। मैं शायद आठवीं का छात्र था। कस्बे में प्लेग पड़ी थी। आबादी घर छोड़ जंगल में टपरे बनाकर रहने चली गई थी। हम नहीं गए थे। मां सख्त बीमार थी। उन्हें लेकर जंगल नहीं जाया जा सकता

था। भाय भाय करते पूरे आसपास मे हमारे घर ही पहल पहल थी। काली रातें। इनम हमारे घर जलने वाले कदील। मुझे इन कदीलो से डर लगता था। कुत्त तक बस्ती छोड गए थे। रात के सन्नाटे म हमारी आवाजें हम ही डरावनी लगती थी। रात को मरणासन्न मा के सामने हम लोग आरती गाते—जय जगदीश हरे, भक्त जना के सकट पल म दूर कर। गाते गात पिताजी सिसकने लगते, मा बिलखकर हम बच्चो को हृदय म चिपका लेती और हम भी रोने लगत। रोज का यह नियम था। फिर रात को पिताजी, चाचा और दो एक रिश्तेदार लाठी-बल्लम लेकर घर के चारो तरफ घूम घूमकर पहरा देते। ऐसे भयकारी, त्रास-दायक वातावरण म एक रात तीसरे पहर मा की मत्यु हो गई। कोला-हल और विलाप शुरु हो गया। कुछ कुत्ते भी सिमटकर आ गए और योग दन लग।

पाच भाई-बहनो म मा की मृत्यु का अथ मैं ही समझता था—सबसे बडा था।

ल्लग की वे रातें मेरे मन म गहरे उतरी हैं। जिस आतक, निश्चय, निराशा और भय के बीच हम जी रहे थे, उसके सही अकन के लिए बहुत पन्ने चाहिए। यह भी कि पिता के सिवा हम कोई टूट नही थे। यह टूट गए थ। वह इसके बाद भी 5 6 साल जिए, लेकिन लगातार बीमार, हताश निष्क्रिय और अपने से ही डरते हुए। धधा ठप्प। जमा पूजी खान लगा। मेरे मट्रिक पास होने की राह दखी जाने लगी। समझने लगा था कि पिताजी भी अब जाते ही हैं। बीमारी की हालत म उन्होने एक बहन की शादी कर ही दी थी—बहुत मनहूस उत्सव था वह। मैं बराबर समझ रहा था कि मेरा बोझ कम किया जा रहा है। पर अभी दो छोटी बहनें और एक भाई थ।

मैं तयार होने लगा। खूब पढने वाला, खूब खेलने वाला और खूब गाने धाने मैं गुरु स था। पढने और खेलने म मैं सब भूल जाता। मट्रिक हुआ जगल विभाग म नौकरी मिली। जगल म सरकारी टपरे म रहता। ईंटें रखकर, उनपर पटिए जमाकर बिस्तर लगता। नीचे जमीन चूहो न पानी कर दी थी। रात भर नीचे चूहे धमाचौकडी करत रहत और मैं

सोता रहता। कभी चूहे ऊपर आ जाते तो नींद टूट जाती पर मैं फिर सो जाता। छह महीने धमाचौकड़ी करते चूहों पर मैं सोया।

बेचारा परसाई ?

नहीं नहीं, मैं खूब मस्त था। दिन भर काम। शाम को जंगल में घुमाई। फिर हाथ से बनाकर खाया गया, भरपेट भोजन—शुद्ध घी और दूध !

और चूहों ने बड़ा उपकार किया। ऐसी आदत डाली कि आगे की जिन्दगी में भी तरह तरह के चूहे मेरे नीचे ऊधम करते रहे हैं, साँप तक सरसराते रहे हैं मगर मैं पटिए बिछाकर मजे में सोता रहा हूं। चूहा ही नहीं, मनुष्यनुमा बिच्छुओं और साँपों ने भी मुझे बहुत काटा है—पर 'जहरमोहरा' मुझे शुरू में ही मिल गया। इसलिए 'बेचारा परसाई' का मौका ही नहीं आने दिया। उसी उम्र से दिखाऊ सहानुभूति से मुझे बेहद नफरत है। अभी भी है। अभी भी दिखाऊ सहानुभूति वाले को चांटा मार देने की इच्छा होती है। जब्त कर जाता हूं वरना कई 'शुभचिंतक' पिट जाते।

फिर स्कूल मास्टरी। फिर टीचर्स ट्रेनिंग और नौकरी की तलाश उधर पिताजी मृत्यु के नजदीक। भाई पढ़ाई रोककर उनकी सेवा में। बहनें बड़ी बहन के साथ, हम शिक्षण की शिक्षा ले रहे हैं।

फिर नौकरी की तलाश। एक विद्या मुझे और आ गई थी—बिना टिकट सफर करना। जबलपुर से इटारसी, टिमरनी, खंडवा इंदौर, देवास बार बार चक्कर लगाने पड़ते। पैसे थे नहीं। मैं बिना टिकट बेखटके गाड़ी में बैठ जाता। तरकीबें बचने की बहुत आ गई थीं। पकड़ा जाता तो अच्छी अंग्रेजी में अपनी मुसीबत का बयान करता। अंग्रेजी के माध्यम से मुसीबत बाबुओं को प्रभावित कर देती और वे कहते—'लटस हेल्प दि पुअर बॉय।

दूसरी विद्या सीखी—उधार मांगने की। मैं बिल्कुल निःसंकोच भाव से किसी से भी उधार मांग लेता। अभी भी इस विद्या में सिद्ध हूं।

तीसरी चीज सीखी—बेफिक्री ! जो होना होगा, होगा। क्या होगा ? ठीक ही होगा। मेरी एक बुआ थी। गरीब, जिन्दगी गर्दिश

है। खिसक लना। मैंने वैसा ही किया। बाहर खानसामा मेरा सामान लिए खड़ा था। मैंने सामान लिया और चल दिया शहर की तरफ। कोई मित्र ही जागेगा, जो कुछ दिन पनाह दे देगा। अनिश्चय में जी लेना मुझे तभी आ गया था।

पहले दिन जब वायदा'मारसाव' उने तो बहुत अच्छा लगा। पहली तनख्वाह मिली ही थी कि पिताजी की मृत्यु की खबर आ गई। मां के बचे जेवर बेचकर पिता का श्राद्ध किया और अध्यापकी के भरोसे बड़ी जिम्मेदारियां लेकर जिन्दगी के सफर पर निकल पड़े।

उस अवस्था की इन गर्दिशों का जिक्र मैं आखिर क्यों इस विस्तार से कर गया? गर्दिशें बाद में भी आईं। अब भी आती हैं, आगे भी आएंगी पर उस उम्र की गर्दिशों की अपनी अहमियत है। लेखक की मानसिकता और व्यक्तित्व निर्माण से इनका गहरा सम्बन्ध है।

मैंने कहा है—मैं बहुत भावुक, संवेदनशील और बेचैन तबीयत का आदमी हूं। सामान्य स्वभाव का आदमी ठंडे-ठंडे जिम्मेदारियां भी निभा लेता रोते गाते दुनिया से तालमेल भी बिठा लेता और एक व्यक्तित्व हीन नौकरीपेशा आदमी की तरह जिन्दगी साधारण सन्तोष से भी गुजार लेता।

मेरे साथ ऐसा नहीं हुआ। जिम्मेदारियां, दुखों की वही पृष्ठभूमि और अब चारों तरफ से दुनिया के हमले—इस सबके बीच सबसे बड़ा सवाल था अपने व्यक्तित्व और चेतना की रक्षा। तब सोचा भी नहीं था कि लेखक बनूंगा। पर मैं अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की रक्षा तब भी करना चाहता था।

मैंने तय किया—परसाई, डरो किसीसे मत। डरे कि मरे। सीने को ऊपर ऊपर कड़ा कर लो। भीतर तुम जो भी हो, जिम्मेदारी को गैर-जिम्मेदारी के साथ निभाओ। जिम्मेदारी को अगर जिम्मेदारी के साथ निभाओगे तो नष्ट हो जाओगे। और अपने से बाहर निकल आओ। बाहर निकलकर सत्य मिल जाने से व्यक्तित्व और विशिष्टता की हानि नहीं होती। लाभ ही होता है। अपने से बाहर निकलो। देखो, समझो और हंसो!

मैं डरा नहीं। बेईमानी करने में भी नहीं डरा। लोगों से नहीं डरा, तो नौकरियां गईं। लाभ गए, पद गए, इनाम गए। गैर जिम्मेदार इतना कि बहन की शादी करने जा रहा हूं। रेल में जेब कट गई। मगर अगले स्टेशन पर पूड़ी-साग खाकर मजे में बैठा हूं कि चिंता नहीं। कुछ हो ही जाएगा। और हो गया। मेहनत और परेशानी जरूर पड़ी। या कि बेहद बिजली पानी के बीच एक पुजारी के साथ बिजली की चमक से रास्ता खोजते हुए रात भर में अपनी बड़ी बहन के गांव पहुंचना और कुछ घंटे रहकर फिर वही वापसी यात्रा। फिर दौड़ धूप! मगर मदद आ गई और शादी भी हो गई।

इन्हीं सब परिस्थितियों के बीच मेरे भीतर लेखक कैसे जन्मा, यह सोचता हूं। पहले अपने दुखों के प्रति सम्मोहन था। अपने को दुखी मानकर और मनवाकर आदमी राहत भी पा लेता है। बहुत लोग अपने लिए बेचारा सुनकर संतोष का अनुभव करते हैं। मुझे भी पहले ऐसा लगा। पर मैंने देखा इतने ज्यादा बेचारों में मैं क्या बेचारा! इतने विकट संघर्षों में मेरा क्या संघर्ष!

मेरा अनुमान है मैंने लेखन को दुनिया से लड़ने के लिए एक हथियार के रूप में अपनाया होगा। दूसरे, इसीमें मैंने अपने व्यक्तित्व की रक्षा का रास्ता देखा। तीसरे अपने को अविशिष्ट होने से बचाने के लिए मैंने लिखना शुरू कर दिया। यह तब की बात है, मेरा खयाल है तब ऐसी ही बात होगी।

पर जल्दी ही मैं व्यक्तिगत दुख के इस सम्मोहन-जाल से निकल गया। मैंने अपने को विस्तार दे दिया। दुखी और भी हैं। अन्याय पीड़ित और भी हैं। अनगिनत शोषित हैं। मैं उनमें से एक हूं। पर मेरे हाथ में कलम है और मैं चेतना-सम्पन्न हूं।

यहीं कहीं व्यंग्य लेखक का जन्म हुआ। मैंने सोचा होगा—रोना नहीं है लड़ना है। जो हथियार हाथ में है, उसीसे लड़ना है। मैंने तब ढंग से इतिहास समाज, राजनीति और संस्कृति का अध्ययन शुरू किया। साथ ही एक औघड़ व्यक्तित्व बनाया। और बहुत गंभीरता से व्यंग्य लिखना शुरू कर दिया।

मुक्ति अकेले की नही होती। अलग से अपना भला नही हो सकता। मनुष्य की छटपटाहट है मुक्ति के लिए, न्याय के लिए। पर यह बडी लडाई अकेले नही लडी जा सकती है। अकेले वही सुखी हैं, जिन्हें कोई लडाई नही लडनी। उनकी बात अलग है। अनगिनत लोगो को सुखी देखता हू और अचरज करता हू कि ये सुखी कैसे हैं! न उनके मन मे सवाल उठते हैं, न शका उठती है। ये जब-तब सिर्फ शिकायत कर लेते हैं। शिकायत भी सुख देती है। और वे ज्यादा सुखी हो जाते हैं। कबीर ने कहा है—

सुखिया सब ससार है, खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै।

जागने वाले का रोना कभी खत्म नही होता। व्यग्य लेखक की गर्दिश भी कभी खत्म नही होगी।

ताजा गर्दिश यह है कि पिछले दिनो राजनीतिक पद के लिए पापड बेलते रहे। कही से उम्मीद दिला दी गई कि राज्यसभा मे हो जाएगा। एक महीना बडी गर्दिश मे बीता। घुसपैठ की आदत नही है। चिट भीतर भेजकर बाहर बैठे रहने मे हर क्षण मृत्यु पीडा होती है। बहादुर लोग तो महीनो चिट भेजकर बाहर बैठे रहते है, मगर मरते नही। अपन से नही बनता। पिछले कुछ महीने एसी गर्दिश के थे। कोई लाभ खुद चलकर दरवाजे पर नही आता। उसे मनाना पडता है। चिरौरी करनी पडती है। लाभ थूकता है तो उसे हथेली पर लेना पडता है। इस कोशिश मे बडी तकलीफ हुई। बडी गर्दिश भोगी।

मेरे जैसे लेखक की एक और गर्दिश है। भीतर जितना बवडर महसूस कर रहे हैं, उतना शब्दो मे नही आ रहा है तो रात दिन बेचैन हैं। यह बडी गर्दिश का वक्त होता है, जिसे सर्जक ही समझ सकता है।

यो गर्दिशा की एक याद है। पर सही बात यह है कि कोई दिन गर्दिश से खाली नही है। और न कभी गर्दिश का अत होना है। यह और बात है कि शोभा के लिए कुछ अच्छे किस्म की गर्दिशें चुन ली जाए। उनका मेकअप कर दिया जाए, उन्हें अदाए सिखा दी जाए—थोडी चुलबुली गर्दिश हो तो और अच्छा—और पाठक से कहा जाए—ले भाई, देख मेरी गर्दिश।

फिक्र तौसवी

मरे जन्म पर देवताओं ने आकाश से फूल नही बरसाए, क्योकि वे हब्शा के राजमहल पर फूल बरसाने म व्यस्त थे। वहा एक राजकुमार ने जन्म लिया था। यानी जन्म से ही मेरे और देवताओं के सम्बन्ध बिगड गए और अब तक बिगड हुए है।

यह ठीक है कि राजकुमार और साहित्यकार को एक ही तिथि पर और एक ही नक्षत्र म पैदा नही होना चाहिए। इसे आप विधि के विधान की एक त्रुटि भी कह सकते है। लेकिन देवताओं का रोल भी गैर शरीफाना नही होना चाहिए था। उन्हे फूलो के उपयोग का समुचित ढग आना चाहिए था और अगर नही आता, तो भगवान को कुछ 'इटैलिजेंट' देवता पैदा करने चाहिए।

मैं तौसा म पैदा हुआ अगर तौसा मे पैदा न होता तो लडकाना म पैदा हो जाता। टिम्बकटू भी कोई बुरी जगह नही थी लेकिन हर जगह मुझे फिक्र ही कहा जाता और हर जगह मेरा बाप चौधरी नारायणसिंह का मीर मुशी धनपतराय ही होता, जिसके घर आशा के विपरीत एक साहित्यकार जन्म लेता और देवता फूल न बरसाते केवल इसी टेक्नीकल वजह से कि मीर मुशी की छत के नीचे डेढ सौ कमरे नही हैं सिर्फ डेढ कमरा है।

बीस वर्ष बाद मेरे बाप ने मुझपर रहस्योद्घाटन किया—तुम्हारे जन्म की सूचना मुझे जीतू सारबान ने दी थी तो मेरे मुह से केवल इतना निकला था 'यह सातवा बच्चा है और शायद भाइयो की तरह भूखा मरने के लिए पैदा हुआ है।'

अर्थात मेरे (पूज्य) पिता के लिए मेरे जन्म की महत्ता केवल अको तक सीमित थी—पाचवा छठा सातवा। परिणाम यह हुआ कि देवताओं के साथ-साथ भक्तो से भी मेरे सम्बन्ध बिगड गए और आज तक

बिगडे हुए हैं।

श्रको को तो इंसान का भाग्य नही बनना चाहिए।

मगर जीतू सारवान मुझे अब नही समझता था, बल्कि एक बच्चा समझता था, जिसम मासूमियत होती है। वह गाव का एकमात्र एसा व्यक्ति था, जिसने मुझे प्यार से देखा, मोहल्ले में गुड की टागरी बाटी श्रौर इतना सोचना भी निरर्थक समझा कि वह एक सस्ती श्रौर घटिया चीज बाट रहा है। वह केवल इस बात का कायल था कि खुशी बाटनी चाहिए, चाहे वह सस्ती श्रौर घटिया ही क्यो न हो।

श्रौर फिर एक दिन मुझे यू लगा जैसे जीतू सारबान की बेटी फातो जवान हो गई है। श्रौर फातो को देखते ही मैंने भी छलाग लगाई श्रौर जवान हो गया। इस छलाग पर मुझे हैरानी हुई श्रौर खुशी भी हुई। श्रौर यह खुशी 'नेचुरल' थी। 'नेचर' ने हम दोनो के होठो पर गुलाब खिलाए श्रौर मेरे पिता श्रौर जीतू सारवान की दाढी मे सफद बाल उग श्राए। श्रौर मैंने फातो के घडे पर एक हल्का सा 'टन' करता हुश्रा ककड फेंका, जिसे उठाए वह कुए से श्रा रही थी। इस 'टन' से उसके सिर श्रौर छाती मे एक श्राकपक तनाव श्रा गया।

—तुम्हे शरम नही श्राती! फातो ने तनतनाती छाती को पल्लू से ढापकर कहा।

—श्राती है। मैं मुस्कराया।

वह मुह फेर कर शरमा गई ताकि शरमाने की श्रोट मे मुस्करा सके।

श्रौर फिर कई दिन तक हम श्रपने दिल की धडकनो की भाषा समझते रहे श्रौर फिर दिल ही दिल मे घोषणा की कि यह प्यार की भाषा है श्रौर इस प्यार म जीतू सारवान को वही मासूमियत नजर श्राई जो एक बच्चे म होती है। श्रौर उसने मेरे बाप से कहा—मीर मुंशी! तुम्हारा बेटा मेरी फातो के घडे पर ककर फेंकता है

—उसे ऐसा नही करना चाहिए, क्योकि हमारा खानदान शरीफ है। मेरे बाप का खयाल था कि जिन बच्चो को बासी, सूखे टुकडे पानी मे भिगोकर खिलाए जाए वे भी शरीफ खानदान के बच्चे कहला सकते हैं! शराफत बासी टुकडो की खरीदी हुई दासी नही होती।

मेरा बाप भ्रम में खुश रहना बेहतर समझता था। मगर उस खुशी को नबरदार के लड़के दाऊद खान ने एक दिन जबरदस्त झटका दिया। जब फातो नवाब का सरे-मरूर बुलंद किए कुए से आ रही थी और मेरे कक्कर का इतजार कर रही थी तो दाऊद खान न अपनी कालीनी कमीज़ के बाजू फातो के रास्ते में फैला दिए। वे बाजू कक्कर नही थे, बल्कि दाऊद उन्हे प्रेमालिंगन का आधार समझ रहा था। उसन फातो को 'चैलेंज' दिया—मुझसे इश्क करो, वरना

—वरना ? फातो न 'वरना हू' के लहजे मे कहा। ऐसी 'हू' वह गाव मे सिवा मेरे हरएक से कह सकती थी। किन्तु जीतू सारबान के पास सिर्फ दो ऊट थे और नबरदार के पास तीन घोडिया, पाच बल और छह शिकारी कुत्ते थे। इन सबने मिलकर फातो को सोते मे उठा लिया और एक पहाडी कदरा मे ले गए और फिर पहाडी कदरा से कुछ चीखें सुनाई दी। और उल्लुओ ने मनहूस आवाज निकाली। और पहाडी कौवे कुरलाते हुए कदरा से भाग आए और मेरी छत पर आ गए। यह इश्क की और मासूमियत की और उस रूह की तौहीन थी, जिसे आगे चलकर शायर और साहित्यकार के चाले मे ढलना था।

—ऐसा क्यो ? आखिर क्यो ? मैंने बाप से पूछा, जीतू सारबान से पूछा। दोनो ने एक स्वर म उत्तर दिया—बेटा, यह जग की रीत है जिसमे नबरदार और थानदार एक दस्तरखान पर बैठकर मुर्गी खाते हैं। और जिनके बच्चे बासी टुकडे खाते हैं, मुर्गी उनकी फरियाद नही सुनती।

और फिर मैं रातो रात गाव से भाग गया। और गाव में किसी-को भी नही बताया कि मैं ऐसे जग को बदल दूगा। और मुर्गी तथा बासी रोटी की दूरी को मिटा दूगा। फातो को भी नही बताया। कैसे बताता ? उसने तो कुए मे छलाग लगा दी थी। बासी टुकडे ने अपने अपमान के बदले आत्महत्या कर ली थी।

अत आत्महत्या से भी मेरे सम्बन्ध बिगड गए। ऐसी फातो स भी बिगड गए, जो आत्महत्या करके समझती है कि इससे थानदार और नबरदार के दस्तरखान स मुर्गी भाग जाएगी।

और फिर एक दिन यो हुआ कि मेरी नन्ही मासूम बच्ची राजरानी, जिसके पास न राज था, न वह रानी थी, सिर्फ एक गला-सड़ा केला, और पुस्तकें थीं, जिन्हें वह बस्ते में बांधे स्कूल जा रही थी, कि अचानक खतरे का हॉर्न बजा। आकाश में विमान मंडराने लगे। उन विमानों में कोई बस्ता, केला और पुस्तक न थी, बल्कि बम थे। और उन्होंने कहा कि यह जंग है। और अगर तुम स्कूल जाओगी, तो बम फेंककर तुम्हें खत्म कर देंगे, क्योंकि हमने पुस्तकें पढ़कर ही ये बम बनाए हैं। और मासूमियत पर यह बम मुझे यों लगा जैसे नंबरदार का लड़का दाऊद खान फातो के घड़े पर अपने घोड़े का सुम मारकर कह रहा हो—मुझसे इश्क करो, वरना!

और मुझे क्रोध आ गया। मुझे मालूम न था कि क्रोध मनुष्य को अंधा बना देता है। फिर मैंने लाउडस्पीकर अपने कंधे पर रख लिया और गांव-गांव घूमने लगा—हम शांति चाहते हैं, शांति! किसके लिए? नन्ही राजरानी के लिए। मासूम आंखों में गुनगुनाते टैगोर और कालिदास के लिए!

और गांव के ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर मुझे कांटे चुभे। झाड़ियों ने उलझाया, कीचड़ ने लथपथ किया। सूखी-सड़ी चाय उबलती भूख और हांठों की पपड़ियों ने मुझे झांसे दिए कि यह पवित्र कर्त्तव्य है। इतिहास पलटा खाएगा और मुर्गी तथा बासी रोटी की दूरी मिट जाएगी। और किसी फातो का घड़ा आत्महत्या नहीं करेगा। और फिर विमान का बम शरम से पिघल जाएगा और मासूम राजरानी का गला-सड़ा केला एक सेब में बदल जाएगा।

और उस सेब पर टैगोर की 'गीतांजलि' लिखी जाएगी।

लेकिन जब मैं शांति का लाउडस्पीकर कंधे पर रखे चल रहा था, तो एक टीले पर मुझे बाबा गोवर्धन सिंह मिला, जो पन्द्रह वर्ष तक केले को सेब में बदलने की खातिर जेल में रहा था। उसकी मासूम फातो को भी किसी न बम से मार दिया था और वह आवेश में आकर विद्रोही बाबा बन गया था और अमरीका भाग गया था। वहां से दुखानी जहाज में बंदूकें भर लाया था। परन्तु जहाज को बाबा और बंदूकों समेत अंडमान

जेल के दलदल मे फेंक दिया गया था।

ऐसा था बाबा गोवधन सिंह। उसने मेरे कधे पर शाति की फाख्ता को बैठ देखकर उपहासपूर्ण कहकहा लगाया और कहा—तुम मूख हो यगमैन।

—क्या शाति का आह्वान मूखता है, बाबा?

—कैसी शाति? किसके साथ शाति? वह नथुने फड़काकर बोला—जो लोग शिकारी कुत्ते छोड़कर टैगोर के गीतो को झझोड़ते हैं, उनके साथ हम शाति से कैसे रह सकते है? मुर्गी को तुमने पाला है। परंतु उसे नबरदार का बेटा थानेदार के साथ बैठकर खा जाता है। क्या हम उसके साथ शाति से रहे। तुम्हारा बाप क्या काम करता है?

—चौधरी नारायण सिंह का मीर मुशी था।

—बस वही। उसने शाति का लाउडस्पीकर जोर से गिरा दिया। तुम्हारे चेहरे पर जवानी में जो झुर्रिया है ये उसी नारायण सिंह ने डाली है। ये झुर्रिया तभी मिट सकती है, जब हम नारायण सिंह से युद्ध करेंगे, शाति नहीं।

क्या बाबा गोवधन सिंह मेरे पिता की तरह सभ्रम में खुश रहना जानता था? कुछ माह बाद सुना कि बाबा गोवधन सिंह का पीछा करते हुए पुलिस ने उसकी रीढ़ की हड्डी पर गोली चला दी। आरोप यह था कि उसने किसी चौधरी नारायण सिंह की जागीर में अग्न्यास्त्र दबा रखा था ताकि उसकी फसल भक से उड़ जाए। उस समय से शाति से भी मेरे सम्बन्ध बिगड़ गए।

क्या मैं सम्बन्धो मे बिगाड़ पैदा करने के लिए ही इस दुनिया मे आया था? नम्रतापूर्वक यह प्रश्न मैंने जैमिनीदास रगसाज से किया जो मुझसे आठ घटे प्रतिदिन काम लेता था और दो आने प्रतिदिन देता था। मैं उसकी 'भारत रगसाज कपनी' मे हसीनाओ के दुपट्टे और प्रतिष्ठित लोगो की पगड़िया नारगी, गुलाबी, सुरमई रग मे रगता था। क्योंकि मुझे भूख लगती थी और कपनी को इस भूख की जानकारी थी। दो आने मे दाल रोटी तो मिलती थी लेकिन आलू गोभी की स्पेशल सब्जी नहीं मिलती थी। ढाबे के मालिक श्रीचद को मैंने लाख समझाया कि

'स्पेशल' सब्जी के लिए मेरा मन बेहद ललचाता है, 'लेकिन वह कहता—लालच बुरी बला है। शास्त्रों में इसे पाप कहा गया है।

मैंने सोचा शास्त्र शायद दो आने प्रतिदिन पाने वालों के लिए नहीं लिखे गए।

निरंतर लालच से बोर होकर एक दिन मैंने जमिनीदास से कह दिया—मास्टरजी! कभी-कभी यों लगता है जैसे मेरे और आपके सम्बन्ध बिगड़ जाएंगे।

वह बोला—कोई हर्ज नहीं। मेरे सम्बन्ध तो उस सिपाही से भी बिगड़ गए हैं, जो मुझसे पांच रुपये प्रतिमास रिश्वत लेता है। तुम क्या हो? तुमको तो इतना भी ज्ञान नहीं कि नारंगी और नीला रंग मिलने से कौन सा रंग जन्म लेता है

मैंने कहा—मैं तो इतना जानता हूं कि थानेदार का रंग जब करंसी नोट के रंग में मिलता है, तो मछली का रंग जन्म लेता है जिसे आप हर शाम शामू मछलीफरोश से खरीद कर खाते हैं। यह सुनकर जैमिनीदास ने मुझे अत्यंत भद्दी गाली दी और नौकरी से निकाल दिया और कहा—तुम दुपट्टे रंगने की कला कभी नहीं जान सकते। अधिक से अधिक तुम पगड़ी और दुपट्टे के इंद्रधनुष पर एक कविता लिख सकते हो। अतः हू और फू!

मैंने थानेदार से रिपोर्ट की। उसने कहा—यद्यपि अभी जैमिनीदास से मेरे सम्बन्ध अच्छे नहीं, फिर भी रंगों के बारे में उसका दृष्टिकोण सही है। वह रंगों की भाषा अधिक समझता है, तभी तो मछली खाता है।

मैंने दिल ही दिल में थानेदार पर अपनी 'हू' उड़ेली और भाग गया, भागता गया यहां तक कि मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

वास्तव में भागते-भागते मैं तेल चमेली स्पेशल की फर्म के पास से गुजरा था, जिसके मालिक घूमीमल ने मुझे पिछड़ेपन से हांफते देखकर मेरे हाथ में ब्रश और स्याही का डिब्बा पकड़ा दिया कि हमारा तेल का इश्तहार शहर भर की दीवारों पर लिख आओ, तुम बहुत उन्नति कर जाओगे। जिस व्यक्ति को दो ग्रास मिल जाएं उसे उन्नति कहते हैं। लेकिन मैंने सोचा कि दो ग्रास बांटने का श्रेय उन्हें मिलता है, जो तेल

शराब के नशे मे गाला को गडेरी समझकर चस रहा था तो वह रहा था—मैं इनसानियत परस्त हू। इन वेहोश छोकरे को सडक से उठा लाया, क्योकि इसकी नाक वडी मासूम है। मुझे घोखा नही देगी। मैं इसे अपना शागिद वनाऊगा।

लेकिन फिर दूल्हा दुल्हन के भागने से पहले छापामार पुलिस आ गई और नौसरवाज के शागिद को गिरफ्तार करके ले गई। और फिर नौसरवाज को जीवन भर न पकड सकी। पुलिस को उसकी और मरी नाक की पहचान नही थी। तभी से नाक और पुलिस से मेरे सम्वन्ध विगड गए और अव तक विगडे आ रहे हैं।

और फिर मुझे याद नही मैं कव रुक गया और जसे मुझपर सदिया गुजर गईं। आदि से अत तक फैलने वाला इन्सानी कारवा गुजर गया और मैंने देखा कि कुछ घाव हैं, कुछ पपडिया हैं, कुछ अगारे है जो मेरा निरतर पीछा कर रह हैं। उन्होने मुझे गया के एक जगल मे रोक लिया। वहा शायद एक घना पेड था और एक बौद्ध, भाती बैठा तपस्या कर रहा था। और फिर गया के आकाश से एक लेखनी गिरी और आवाज आई—जहा जहा से भागे हो वहा वहा वापस जाओ और इस लेखनी से तपस्या करो। और इस तपस्या से घाव को और पपटी को और अगारे को रूप, भाव और शब्द प्रदान करो। और यह भगवान का आदेश है और याद रखो भगवान का आदेश अटल होता है

और इस आवाज मे रूप था जो मुसामो मे फूल की तरह खिल उठा और मैंने लेखनी हाथ मे पकड ली, जिससे ये फूल सुगघ देन लगे और मुझे यो लगा जैसे यह मेरे उद्देश्य की सुगघ है। केले और सेव की दूरी को समाप्त करने वाली सुगध है और इसी सुगध पर तैरते तैरते मैं दुनिया को यह बताने में समथ हो सका कि देवताओ ने मेरे जन्म पर फूल क्या न बरसाए और कि भगवान केवल एक शर्त पर इटलिजेंट देवता पैदा कर सकता है, अगर भाती आत्महत्या न करे, वल्कि गोवधन सिंह वावा की तरह नौसरवाजो से युद्ध करे।

राही मासूम रजा

मैं अक्सर सोचता हू कि व्यक्ति की परिभाषा क्या है। 'मैं' क्या चीज होता है ? मैं तो अपनी एक भीड हू। मैं केवल एक लेखक नही। मैं किसीका बेटा, किसीका भाई, किसीका पति और किसीका पिता भी हू। किसीका दोस्त और किसीका दुश्मन भी हू। मैं वह आदमी भी हू जो किसीके लिए काम करता है। मैं वह आदमी भी हू जिसके लिए कुछ लोग काम करते है। मुझमे और बहुत से लोग भी होगे। मैं वह 'हिपोक्राइट' भी हू जो अपने 'बॉस' के बजाय लतीफे सुनकर सिर्फ हसता ही नही, बल्कि जी लगाकर हसता हू। जो घण्टों अपने बोरिंग पडोसियो को बरदाश्त करता है, जो खराब शेरो की तारीफ करता है जो इसी प्रकार के और भी बहुत से घटिया काम करता रहता है यह 'मैं' 'व्यक्ति' तो हरगिज नही। यह तो अच्छा खासा मोहल्ला है।

तो प्रश्न यह उठता है कि यह जो मेरी भीड है इसमे बात किसकी चलती है ? कायदे से तो लेखक की बात चलनी चाहिए क्योकि घर म उसीके पसीने का चिराग जलता है। पर ऐसा होता नही। लगभग हमेशा लेखक को अपना जी मारना पडता है।

सामने जो आदमी बठा चाय पी रहा है वह लेखक के पास नही आया है। वह तो मालिक मकान है किरायेदार स किराया बढाने की बात करने आया है। और जो आदमी उसके सामने बठा उसे फुसलाने की कोशिश कर रहा है, और दिल ही दिल म उसे गालिया भी देता जा रहा है वह भी लेखक नही, क्योकि लेखक तो बेचारा अलग थलग बैठा एक कहानी लिख रहा था कि मालिक मकान के आने की खबर मिली। किरायेदार उठा तो उसके साथ लेखक को भी 'सिटिंग रूम' मे आना पडा यू ही मुझपर और बहुत कुछ भी गुजरती रहती है। पर इन बातों पर न पाठक सोचता है, न आलोचक। पाठक के पास पसद-नापसद

की तलवार है। वह यह तलवार भाजता रहता है। और आलोचक बड-बडे और बूढे शब्दो के पत्थर लुढकाता रहता है। रुककर मरी खरियत कोई नही पूछता।

कोई लेखक शौक स बुरा नही लिखता। मैं उन लेखको की बात नही कर रहा हू जो केवल बुरा ही लिखते हैं और केवल अपने लिखे को महत्त्वपूर्ण साहित्य मानते हैं। मैं साहित्यकारा की बात कर रहा हू। उन साहित्यकारा की बात कर रहा हू जो अच्छे और बुरे साहित्य मे फक कर सकते है। फिर भी सदा अच्छा ही नही लिखन। यह साहित्यकार बडी मुश्किल मे कोई घटिया चीज लिखने पर तैयार हो पाता है। जानत-बूझते बुरा लिखना बडा मुश्किल काम है। पर इसे वही लोग समझ सकन है, जो लिखने का काम करते हैं। वह लिखना पडता है जो लिखने को जी नही चाहता। पर लिखता हू क्योकि मैं केवल लेखक ही नही हू, मैं वह दूसरा आदमी भी हू।

सत्ताईस साल स लिख रहा हू। जिन्दगी का खाता देखता ▮ तो पता चलता है कि बिका ज्यादा, खरीदा कम। पाया कुछ नही। आत्मा का बजट 'डेफिसिट' पर चल रहा है।

बीस बाईस बरस तक लिखना पेशा नही था, शौक था। शोहरत पाकर खुश हो लिया करता था। काफी मशहूर हुआ। बडे 'ऑटोग्राफ' बाट। पर उन दिनो भी दिल दुखता ही रहता था। उन दिनो की एक कविता याद आई। शीषक था 'सालगिरह'

आज मैं अपने घर मे त हा
तीस और तीन चिराग जलाए
सोच रहा हू
आखिर मैंने क्या खोया है
आखिर मैंने क्या पाया है

यह शायद सन् साठ की कविता है। घाटे का यह खयाल मुझे उन्ही दिनो स परेशान कर रहा है

कोई मुझे इक कागज दे दे
ऐ जख्मो से चूर उगलियो
मेरे कलम की सुदक रगो को
आखिरी बार अब खून कज दो।
तीस और तीन चिरागा की इस खौफजदा
सी रोशनी मे आज
इस कागज मे इक तरफ तो खेसारा लिख लू
और इक तरफ मुनाफा लिख लू
क्योकि हमारी इस दुनिया मे
जिन्दगी चाह् जैसी भी हो
दस्तावजें ठीक लिखी हो
क्योकि हमारी इस दुनिया मे
आन्मी तो दो चार बरस
दस-बीस बरस मे मर जाता है
लेकिन यह दस्तावेजें जिन्दा रहती हैं।

यह है मेरे दिल का दद। और इस दद म कोई शरीक नही होता। वह दूसरा आदमी भी यह दद नही समझता तो किसी और से क्या शिकायत करू ?

मरी पत्नी मुझे बहुत चाहती है, क्योकि उसने मुझे बडे महग दामो लिया है। तो मैं उस इस दद का राज बताकर क्यो उदास करू ? दद की यह सलीब उठाए उठाए घूमता रहता हू

मरा प्यार अब एक सलीब है
जिसको मैं कधो पर उठाए
बस्ती-बस्ती घूम रहा हू।
यह कधा जब दुख जाता है
इस कधे पर रख लेता हू!

लेकिन जब दोनो कधे दुख जाएगे, तब क्या करूगा ? अपने आपसे यह पूछते डर लगता है। शायद इसीलिए अपनी कविता 'यादो के काले जगल मे' मे मुझे लिखना पडा

यादो के काले जगल मे
मैं अपने को ढूढ रहा हू

शायद मुझको खा डाला हो
आदमखोर दरख्तो ने !
मैं जो कभी एक नन्हा-सा चचल बच्चा था
वह नन्हा सा चचल बच्चा
इस जगल की तारीकी मे डूब गया है।

फिर मैंने 'प्यास और पानी' मे लिखा

धूप के इस काले सहरा मे
सब तन्हा हैं
इक अगारा है कि जमी है
साए का इक हल्का-सा धब्बा भी नही है
जिसकी गोद मे बैठ के कोई
घास की उगली से शबनम के कतरे चाटे !

और फिर मैंने अपनी वसीयत लिखी

मैं इस दुनिया से क्या मागू
मुझे बेचा है इस दुनिया ने बरसो
और न जाने कब तलक यू ही
इसी जिल्दो की धजीरें पिन्हा कर
यह गुलामो की तरह मुझको

हर इक आबाद चौराहे पे ले जाएगी और मजमा लगाएगी
मैं इस दुनिया से क्या मागू
मेरी नज्मो की कीमत जिन्दगी मे इसने कब दी थी
जो अब देगी !

यह सन् बासठ की बातें है। तब तक लिखना मेरा पेशा नही बना था। फिर मेरी आवाज इतनी कडवी क्यो है ? क्या इसलिए कि मैं एक बक मे क्लर्की कर चुका था ? क्या इसलिए कि अपने एक दोस्त के नफे के लिए नाम बदल बदलकर कहानिया घड रहा था ? एक बडी कडवी बात याद आई। मेरी जेब खाली थी। अब्बा नाराज थे। एक प्रकाशक ने शायद दो सौ रुपये 'एडवास' दिए कि 'गुनाह की रातें' जैसी कोई कहानी लिख दू। पैसा की जरूरत थी। ले लिए। तय यह हुआ कि मैं चूकि प्रगतिशील लेखक हू, इसलिए अपने नाम से कोई अश्लील कहानी नहीं लिख सकता। सौ-सवा सौ पन्ने लिख डाले। फिर खयाल आया कि मैं दुनिया से तो यह बात छिपा लूगा, पर अपने आपस कैसे छिपाऊगा ? मैंने वो सौ सवा सौ पन्ने फाड दिए। पर यह तब की बात है, जब मैं न पति था, न पिता। यदि होता तो क्या करता ? थोडे दिनो पहले तक यह बात याद करके मैं शरमा जाया करता था। अब सिर्फ उदास होकर रह जाता हू क्योकि अब मैंने उस दूसरे आदमी से सुलह कर ली है। यहीं एक बात और बडी सफाई से कहना चाहता हू। अब्बास हुसैनी, उस बेनाम प्रकाशक, ही की तरह कम्युनिस्ट पार्टी के लिए भी जान बूझकर बुरा लिखा है। पहले और आखिरी के लिए शर्मिंदा नही हू, पर यह बात फिर भी सही है कि मैंने लेखक को अपने घर मे दूसरे दर्जे का शहरी जरूर बनाया है।

पर जब तक मैं अलीगढ मे रहा, तब तक उस बेनाम प्रकाशक के सिवा किसीन मुझे जलील नही किया। मैंने जान-बूझकर जो बुरी कविताए और कहानिया लिखी, उनपर मैं शर्मिंदा नही हू। दोस्ती और राजनीतिक वफादारी के सामने मैं अब भी सर झुकाने को तैयार रहता हू।

मेरे मुह का मजा वास्तव मे अलीगढ के आखिरी दिना मे खराब

हुआ। और वह कडवाहट अब तक मेरे मुह मे भरी हुई है। मेरे उपन्यास 'टोपी शुक्ला' मे मेरे अलीगढ की कुछ झलकिया है।

वहा के उर्दू विभाग मे पहली बार मुझे पता चला कि सच बोलना घाटे का काम है। ईमानदारी से काम करना घाटे का काम है। मैंने यह जाना कि तरक्की करनी है तो अपने आसपास के आले अहमद सुरूर और डाक्टर नूरुल हसनो को मक्खन लगाना चाहिए। मुझे इस बात पर फख है कि मैंने इन दामो तरक्की करना स्वीकार नही किया—यह शेर मेरा है

ये ठीक है कि अधेरा नही है महफिल मे
मगर चिराग पे क्या-क्या गुजर गई होगी।
जजीरो मे जान पडी जू दौडा
मौसमे गुल ने इतनी देर लगाई।
ऐसा लगता है कि अधेरा जीता
परवानो ने नाहक जान गवाई।
हम जिसके पीछे भागे है इतना
शायद परछाई थी, हाथ न आई।

लेकिन मैंने हिम्मत न हारी। मैं यही गुनगुनाता रहा

हम भी जुगनू की तरह सहरा मे
शाम होती है तो जल जाते हैं।

मेरा काम जलकर रोशनी करना है। अपनी तकदीर का मातम करना मेरा काम नही। दीवानगी के इन्ही दिनो मे मैंने अपना उपन्यास 'आधा गाव' लिखा। आधा गाव का जिक्र मैं खासतौर पर कर रहा हू। इस उपन्यास की गिनती हिन्दी के अच्छे उपन्यासो मे हुई। अब उसका हिसाब देखिए। तीन बरस मे लिखा गया, एक बरस मे छपा, तीन बरस मे बिका। यानी सात साल का फेर है। मूल्य था दस रुपये, छपा था

दो हजार, यानी पूरे महीने का दाम हुआ बीस हजार। मेरी आमदनी हुई तीन हजार। (अगर पूरी मिल जाए तो!) यानी चार सौ पचहत्तर रुपये पच्चीस पैसे माह। लगभग पचीस रुपये पचहत्तर पैसे माहवार। यह दर है आप एक अच्छा उपन्यास लिखने का बीमा! साढ़े पचीस रुपये माहवार। इन्साफ इसमें से भी काफी मार लेता है। आप किस मुँह से यह मांग करते हैं कि मैं अच्छा लिखता रहूँ? या अच्छा लिखता रहूँ तो खाऊँ क्या! हर शाम वह दूसरा आदमी घर का हिसाब लेकर बैठ जाता है

किराया 600/-
राशन 425/
बच्चों की फीस 27/-
दवा-दारू 100/-
अतिरिक्त खर्च 300/
गपन्पानी 400/-
चन्दे 50/
किताबें 100/-

कुल 2002/-

सीधा हिसाब यह हुआ कि आमदनी साढ़े पचीस रुपये माहवार और खर्च दो हजार रुपये माहवार। लगभग 1965 रुपये माहवार का घाटा है।

अच्छा लिखकर जीने की कोई सूरत निकालिए न!

बम्बई में छह बरस रहने के बाद दूसरों के बारे में सच बोलने की हिम्मत नहीं रह गई है। पर अपने बारे में सच बोलने की आदत अभी तक नहीं छूटी है। खुदा न चाहा और हालात यही रहे तो चार बरसों में सुधरकर लेखक से आदमी बन जाऊँगा।

जिसने 'आधा गाँव', 'टोपी शुक्ला', 'हिम्मत जौनपुरी' और 'ओस की बूँद' जैसे उपन्यास लिखे हैं वह बड़ा बहादुर आदमी था। पहले तीन उपन्यास उन दिनों की यादगार हैं जब लिखना मेरा पेशा नहीं बना था। परन्तु जब अलीगढ़ छूटा और मैं अपने परिवार के साथ बबई

आया, तो मेरे पास एक हजार रुपये थे और एक अजनबी भविष्य था। और मेरी बेटी मरियम पैदा होने वाली थी पर अभी तक मैं टूटने को तैयार नही था। मैं इसीमे मगन था कि लेखक हू लेखक। उल्लू का पटठा। भारती और कमलेश्वर ने साथ न दिया होता तो अस्पताल का बिल अदा करके मैं अपनी पत्नी और बेटी को अस्पताल से घर भी नहीं ला सकता था। तस्वीर का यह वह रुख है, जिस पर न पाठक की निगाह पडती है और न आलोचक की। परतु मैं जो यह जिदगी जी रहा हू, इस वास्तविकता से आखें नही चुरा सकता। मैं 'आधा गाव' लिखकर जिंदा नही रह सकता। और 'आधा गाव' लिखूगा कमे यदि जिंदा ही नहीं रहूगा? दो बरस से एक उपन्यास 'चुटकी भर धूप' लिख रहा हू। 70 पन्ने लिख पाया हू। यह रफ्तार तब है, जब लिखना पेशा बन चुका है। मेरे लेखक को यह दूसरा आदमी छापकर बैठ गया है। मैं लेखक से 'डायलॉग राइटर' बन गया हू। 'डायलाग राइटर' होना कोई बुरी बात नही। फिल्म एक बहुत बडा माध्यम है। घपला यह है कि इसमे मुझे लिखने की आजादी नही है। मैं 'डायलॉग राइटर' हू पर लोगो का ख्याल है कि डायलॉग' के बारे मे मैं कुछ नही जानता। मेरे अलावा हर आदमी को यह अधिकार है कि वह कलम उठाए और मेरे लिखे हुए सीन को 'ठीक' कर दे। मैं (और मेरी ही तरह के दूसरे तमाम लोग) इस जिल्लत को बरदाश्त करता हू—क्योकि मुझे 'चुटकी भर धूप' लिखना है।

जब सारा घर सो जाता है, तो मैं सोचता हू कि वह राही मासूम रजा क्या हुआ जो मेरे साथ बबई आया था? मुझे अपने आपसे नफरत होने लगती है और तब मेरी चार साल की बेटी करवट लेकर मुझपर अपना पाव रख देती है। मैं उसके पर को चूम लेता हू और अपने आप से मेरी नफरत कुछ कम हो जाती है।

क्या मैं अपनी बेटी को जिंदा और खुश रखने के लिए एक लेखक को नही मार सकता? जरूर मार सकता हू। और यदि आप मुझे जिंदा रखना चाहते हैं तो मेरी तनख्वाह कुछ बढाइए। साढे पतीस रुपये माहवार मे जिंदा रहना मेरे बस की बात नही है।

कमलेश्वर

एक अमीर कहे जाने वाले घर में गरीब की तरह रहना, खाना खाकर भी भूखा उठना, तकलीफों में भी हँसना, लड़कपन में भी बड़ों की तरह फैसले लेना—यह मेरी आदत नहीं मजबूरी थी।

एक दिन बैठक में लगी दो तस्वीरों को दिखाते हुए मेरे बड़े भाई सिद्धार्थ ने कहा था—"यह तस्वीर बाबा की है और यह बाबू जी की है—तुझे कुछ याद है बाबूजी की ?"

मैंने चुपचाप सर हिला दिया था—"नहीं"। तब मैं चौथे दर्जे में पढ़ता था। सिद्धार्थ ही ने बताया था—"बाबूजी का हार्टफेल हो गया था तब तू बहुत छोटा था बाबा को मैंने भी नहीं देखा।"

घर में तमाम तस्वीरें थीं और घर में हरेक व्यक्ति ऐसा था जिसने किसी एक को देखा था—बाकी की सिर्फ तस्वीरें ही देखी थीं।

जब मैं समझदार हुआ तो मुझे सिर्फ वह तस्वीरें ही देखने को मिलीं जो बैठक की दीवारों की कार्निस पर लटकी हुई थीं। इन तस्वीरों से ही मुझे अपने परिवार वालों का परिचय मिला था यादों से उतर जाने वाले परिवार का परिचय !

हर बारिश में वे तस्वीरें धुंधली पड़ती जाती थीं। मेरे बाबा की तस्वीर तो बहुत ही धुंधला गई थी, ठीक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की तस्वीर की तरह। तब मुझे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का पता नहीं था। मेरे बड़े भाई सिद्धार्थ ने दीवार से बाबा की तस्वीर उतारकर उसकी सहायता से एक नई तस्वीर बनानी शुरू की थी।

सिद्धार्थ से मेरा जीता जागता सम्बन्ध था लेकिन बाबा से बहुत ही ठण्डा, दूर का और श्रद्धा का सम्बन्ध था। कई दिनों तक सिद्धार्थ वह तस्वीर बनाते रहे थे, उन्होंने ठीक वैसी ही तस्वीर बना ली थी। और उसे फ्रेम में जड़वाकर फिर दीवार से लटका दिया था।

घर, बीते हुए तथा आने वाले दिनों के बीच जी रहा था—वर्तमान इन्हीं दो धागों के सहारे लटका हुआ था। जो बीत गया वह गौरवपूर्ण था। भविष्य बहुत अच्छा, सुंदर एवं सुखदायक होगा, क्योंकि सिद्धार्थ बहुत होनहार थे। तभी सिद्धार्थ इस दुनिया से सिधार गए और अमीर कहे जाने वाले घर में गरीब की तरह रहना, खाना खाकर भी भूखा उठना, मुश्किलों में भी हँस पाना, छोटा होते हुए भी बड़ों की तरह फैसले लेना मेरी मजबूरी बन गई थी।

सिद्धार्थ की भी सिर्फ तस्वीर रह गई थी और भविष्य से हमारा सम्बन्ध टूट गया था। सिद्धार्थ से बड़े वाले भाई सुंदर भविष्य की खोज में पहले ही इस छोटे से कस्बे से निकलकर अपने हालातों से लड़ रहे थे।

वह दूसरे महायुद्ध का जमाना था। जागीरदारी का वातावरण खत्म हो रहा था। नौकर चाकर चले गए थे, गाय भैंसों को जिंदा रखने के लिए गाँव में भेज दिया गया था, लेकिन हम लोगों के जीवित रहने की कोई सूरत नज़र नहीं आती थी। माँ रात ढाई तीन बजे उठकर हाथ में कपड़ा लपेट-लपेटकर कुट्टी काटती, चक्की चलाती, बर्तन धोती और सुबह होते-होते नहा धोकर पुराने जमींदार घराने की इज्जतदार मालकिन हो जाती। मौहल्ले वालों के घावों पर मरहम लगाती और रात को चुपचाप रोया करती।

भविष्य को जीत के लाने वाले सैनिक सिद्धार्थ के कपड़ों की सीवन मैं खुद बैठकर उधेड़ा करता था, ताकि माँ को तकलीफ न हो। होली, दिवाली पर माँ अपनी कोई बड़ी सँभालकर रखी सिल्क की पुरानी साड़ी निकाल लाती और घण्टों एक एक कतरन का अंदाज लगाती—"अगर आस्तीन छोटी कर दूँ तो दो कुर्ते बन जाएँगे एक तेरा, एक मन्ना का, मुन्नी की फ्राक का घेर भी निकल आएगा।"

और वर्तमान से उलझने वाले बड़े भाई साल भर बाद जब घर आते थे तब हमें पता चलता था कि बाजारों में बहुत सी चीजें बिकती हैं कुछ वह हमारे लिए लाते थे जिन्हें 'कल' के लिए बक्सों में बन्द कर दिया जाता था और घर से नौकरी पर वापस जाकर बड़े भाई अपना दूध

और अखबार बन्द कर दिया करते थे आखिर खर्च कहां से आएगा!

बाजार में जहां मेरे शौक की चीजें बिकती थीं, मेरे लिए नहीं थीं। बड़े भाई साहब जब अपना पेट काटकर कुछ रुपया बचाते थे तो उन बाजारों की एक बेहद सकरी खिड़की मेरे लिए खुलती थी और फिर साल भर के लिए बन्द हो जाती थी।

मण्डी में अनाज घी गुड़, आलू कपास—सब कुछ था, पर मां की धोती के आंचल में एक दो नोट और कुछ सिक्के थे और जब मैं अनाज लेने जाता था, स्वयं दुकानदार बड़ा तराजू पीछे सरका कर सबसे छोटे तराजू में मेरे लिए चीजें तोलता था।

दुनिया के इस बर्ताव से मेरा अपमान होता था। मेरी बहुत अच्छी मां और सचपरस्त भाई का अपमान होता था लेकिन वे दोनों दुनियादार थे, मैं नहीं था। सिद्धार्थ के कपड़े पहन कर मैं भविष्य के सपने देखा करता। भविष्य को उज्ज्वल बनाने के इरादे और सपने बहुत मामूली ही थे जैसे मां के लिए चश्मा अपने लिए जीन की गेंद और नई किताबें, भाई के लिए नई चप्पलें—इस बार आए थे तो जूता बहुत घिस गया था।

लेकिन मां के वैष्णव विश्वास मुझे विद्रोह से रोकते रहे और यह दबी हुई बगावत बहुत ही अप्राकृतिक ढंग में उभरने लगी। वह एक दुःखदायक प्रसंग था और उस कुसमय में मेरे सहायक थे मेरे सहपाठी। पढ़ाई की ओर से मेरा ध्यान उन मास्टरजी ने हटा दिया था जो मैनपुरी की तम्बाकू खाकर गुस्सा होते थे तो मुंह से फुव्वारे से निकलने लगते थे और जब पीटते थे तो पीटते पीटते बेहाल कर देते थे। मैं हमेशा कुर्ते के नीचे छोटी कुर्सी की गद्दी बांधकर जाया करता था और काछी मास्टर को मार डालने की योजना बनाया करता था।

कस्बे के स्कूल में दुश्चरित्र मौलवी और मोहल्ले के चबूतरों पर बैठे बदमाश और आवारा पहलवान थे मोटर अड्डा पर बदमाश ड्राइवर और क्लीनर थे और था अंधकार—जो शाम से छाने लगता था। पूरा कस्बा अंधेरे की चादर में लिपट जाता था। लड़ाई के दिनों में पढ़ने के लिए भी तेल नहीं मिलता था। तब हम कुछ दोस्त शीशियां और कुप्पियां लेकर म्युनिसिपैल्टी की लालटेनों से तेल चुराने के लिए निकल पड़ते थे। मुझे

आज तक दुख है कि मैं अपने पढ़न के लिए कभी भी नई किताबें नहीं खरीद पाया। जब मेरे सहपाठी अपने पिता के साथ किताबों की दुकान पर जाकर कोस की नई नई किताबें कापिया खरीदत थ तो मेरी आखा म आसू आ जाते थ। मेरे साथ कोई न होता था। चोटें लगती ता मैं दद स कराहता, घुटना पकडे बीच रास्ते म उठता बैठता, अकेला अस्पताल पहुच जाता था। मुझे अकेला देखकर जालिम कम्पाउडर बडी बरहमी से घाव को दबा दिया करता था। मैं दद से बिलबिला कर सहारे के लिए जब कभी उसके बाजू को पकड लेता तो वह मेरा हाथ बुरी तरह झटक कर डाटता था और मैं अपन आसू दबाये मरहम पट्टी करवा लेता था। वहा स निकलकर मैं इमली के पेड के नीचे बठकर रो रोकर अपना मन हल्का कर लिया करता था।

गर्मी की छुट्टियो के बाद जब स्कूल खुलता था तो वहा जाने का उत्साह मन मे नही होता था। पुरानी पुस्तकें—वह भी पूरी नही, कापिया खरीदन को पसे नही होते थ, इसलिए भाई साहब के आने की प्रतीक्षा रहती थी कि वह आएगे तो सरकारी कागज के दस्ते दो दस्त साथ लाएग और सब मेरी बे नाप की कापिया बनेंगी। मा अपनी फटी धोतियो की किनारिया लपेट लपेटकर रखती रहती थी और स्कूल खुलत ही मेरे लिए उन किनारियो का नया बस्ता सी देती थी। एक आने की रबड या स्केल के लिए मा से पैसे मागत हुए मुझे डर लगता था, क्योकि इससे मा की निपट गरीबी खुल जाती थी और व अपनी विवशता मे झुझला जाया करती थी। तीन-तीन दिन मैं भूगोल की कक्षा मे नही जा पाता था, क्योकि रामबाबू जैन की दुकान स दुनिया का नक्शा खरीदने के लिए मा से कहने की हिम्मत नही पडती थी। जब किसी मनचले साथी ने बताया कि पिछली दीवाली पर रामबाबू जैन पाच सौ रुपये जुए मे हार गया तो मुझे राहत मिली।

कस्ब मे जो अफसर आत थ वह बडे ठाठ स रहत थ। उनके लडके गुलदस्ता की तरह सजे हुए स्कूल आत थे और सरकारी स्कूल के हमारे मास्टर जी उन्हें हमशा मानिटर बनाया करत थे। यह तब होता था जब मैं अपनी सारी निराशाओ क बावजूद दर्जे म ज्यादातर अव्वल आया

करता था। यह सच्चाई मेरे लिए असहनीय होती थी। रिसेस में सब लड़के प्याऊ के पास लगे रामभरोसे के खोंचे पर पहुंच जाया करते थे और दबाकर चाट मिठाई खाया करते थे और आलू की सिकती हुई टिकिया देखकर मेरा जी बहुत ललचाता था, लेकिन प्यास लगी होने पर भी मैं उधर नहीं जाता था। रिसेस के बाद जब चिड़िया खत्म हो जाती थी तो मैं पानी पीने जाता था और खोंचे की बची हुई चीजों पर उचटती हुई नज़र डालकर लौट आता था।

दर्जे में मेरे इनाम दूसरों को दे दिए जाते थे और फीस के लिए मुझे बहुत अपमानित किया जाता था। जब तक सिद्धार्थ थे, मेरी फीस आधी हो जाती थी, उनके बाद फीस के लिए फिर कभी मेरी अर्जी मंजूर नहीं हुई। तब सिद्धार्थ ने मेरे मन में एक उद्देश्य को जगाया था और मैंने सालाना इम्तहान में प्रथम आकर वजीफा पाने की ठानी थी। मैं छमाही में तो प्रथम आ जाता था लेकिन सालाना इम्तहान में हमेशा तहसीलदार या जज साहब का लड़का ही प्रथम आया करता था। प्रथम आना मेरे लिए पढ़ाई के नज़रिए से उतना जरूरी नहीं था जितना कि आर्थिक नज़रिए से।

आखिर सालाना इम्तहान में मैं ही प्रथम आया। वजीफे के रुपयों के लिए सिद्धार्थ मुझसे मरते मरते भी पत्र लिखकर पूछते रहे कि मिला या नहीं, लेकिन उनके मरने तक मुझे कुछ न मिला और जब मिला तो वार फण्ड' में आधे रुपये काट लिए गए थे। इन छोटी छोटी कठिनाइयों ने, जो उस समय मेरे छोटे से अस्तित्व के लिए बहुत बड़ी थीं, मुझे झिंझोड़ कर रख दिया था। साइकिल वाले ने मेरी साइकिल छीन ली थी क्योंकि मैं मरम्मत का पैसा नहीं दे पाया था। मेरी मां उन छोटे-छोटे किरायेदारों पर बिगड़ती रहती थी जो पच्चीस पच्चीस साल से दो-दो तीन-तीन रुपये मासिक पर मकान या दुकानें लिए बैठे थे, जिन पर दो-दो साल का किराया चढ़ा हुआ था। और जो कमर ताड़ गरीबी से हारकर हर समय यही कहा करते थे, मालकिन अब इस उमर में हम पर दया करो—इसी दरवाजे से हमारी अर्थी उठेगी।" सभी किरायेदार ऐसे थे जिनके लड़के काम की खोज में आगरा, फीरोजाबाद या कानपुर की ओर चल गए थे, जिनका अपने मां बाप से कोई सम्बन्ध न रह गया था।

धीरे धीरे मा की आखो के आसू बिल्कुल सूख गए थे। वह निपट सूनी आखो से सपाट दीवारो और अधेरे सून कमरा को देखती रहती थी और उन्हें दिल के दौरे पड़ने लगे थे। फिर भी वह कुछ नहीं कहती थी। गली मोहल्ले के हर सकट मे दूसरा के साथ खडी होती थी और इलाहाबाद मे रहने वाले भाई साहब के बच्चा तथा बहू के लिए धीरे धीरे चीजें जमा करती रहती थी। जब भाई साहब आते थे तो वह सबके लिए कुछ न कुछ भेजती थी— 'दुल्हन के लिए धोती, मुन्नी के लिए फ्राक, कुछ कचरी-पापड हैं—अचार डाल दिया था, यह गद्दा बना लिया है बच्चे के लिए —एक कपडा पडा था।" भाई का आना बहुत ही खुशी का और उनका लौटकर जाना बहुत दु खदायी होता था। मैं और भी अकेलापन महसूस करने लगता था लेकिन मा थी कि सब कुछ चुपचाप झेल लेती थी। कहीं अपमान न हो, इसका उन्हें हमेशा ध्यान रहता था और अपना पेट काट काट कर भी वे किसी मुहबोले पोते या नाती के लिए कुछ भेजती रहती थीं। सक्रात और दूसरे त्योहारा पर पण्डितजी के लिए परात भरकर धान भेजती थी। और शादी ब्याह मे अपने पुराने घर की मर्यादा के अनुरूप विवाह के जोडे और नग के रुपये भिजवाती थी। सावन मे मक आने वाली मोहल्ले की विवाहित लडकियो के लिए झूला डालती थी और उन्हें अपने बच्चो की तरह खिलाती पिलाती और मेंहदी रचाकर, पैसे देकर विदा करती थी।

मैं घर मे बिल्कुल अकेला ही रहता था, कोई मेरी उम्र का नहीं था। अपने निपट अकेलेपन मे मुझे सहसा अपने से बडी उम्र की एक लडकी की निकटता मिली और मैं चौबीसो घण्टे उसके ध्यान मे डूबा रहने लगा। उसकी कोठी मे जाते हुए मुझे हमेशा डर लगता था क्योंकि कोठी के ठीक पीछे जगली झाडिया थी और सापो के बिल थे। शाम के उतरते अधेरे मे उससे मिलने जाना, जान पर खेलने के समान था क्योकि मुझे सापो से बहुत डर लगता था वहा जाते हुए मैं हमेशा चिडियो की आवाजो पर ध्यान देता था। क्यो चिडिया साप के होने का जल्दी अनुमान लगा लेती हैं और मिल जुलकर शोर मचाने लगती हैं। जब जब चिडिया चीखती होती, मैं वहीं नाले वाली पगडडी पर ठिठक जाता और कुछ देर बाद लौट आता था। तीसरे चौथे दिन जब भी उसमे

मिलना होता और वह शिकायत करती तो मैं समाज को बुरा भला कहता—यह समाज बहुत क्रूर है जो हमें मिलने नहीं देता—तब हमें सिर्फ इतना पता था कि समाज नाम की कोई बेरहम चीज होती है जो प्रेमीजनों को नहीं मिलने देती—बापों का इसमें क्या दखल ? और दो तीन सालों के बाद जब मेरी इस प्रेमिका का विवाह हुआ तो संयोग से मैं इलाहाबाद से मैनपुरी पहुंच गया था। घर पहुंचते ही मां ने नाई को बुलाकर मेरे बाल छोटे करवाए थे क्योंकि उन्हें लम्बे लम्बे पट्टों से चिढ़ थी और उस लड़की के चाहने पर भी कि मैं विवाह से पूर्व उससे मिल लूं मैं अपने नाम मात्र बालों के कारण उससे मिल नहीं पाया था।

"ज्यादा पढ़ाने से लड़के हाथ से निकल जाते हैं!" यह मेरे सबसे बड़े सौतेले भाई का नारा था, हालांकि वे घर में अलग थे परन्तु घर में फिर भी उनका रोब था। मुझे दसवीं के आगे पढ़ाया जाए यह उन्हें मंजूर नहीं था। उन दिनों वे कानपुर छावनी में यारोपियन इंस्टीट्यूट में मैनेजर थे। वह इंस्टीट्यूट अंग्रेज और अमरीकी फौजियों की विलासिता का अड्डा था। दूसरे महायुद्ध का समय था। नशे में धुत फौजी जब आपस में लड़ते हुए बार के गिलास और बोतलें चलाने लगते तो मेरी आत्मा कांप जाती थी और मैं बार काउंटर के नीचे रखी पेटियों के पीछे दुबक जाता था। अन्दर डांस-हाल में आरकेस्ट्रा बजता रहता था। गलरियों में होजी चलती, संगीत, नाच, गालियों चीखों और कराहों से वह पूरी इमारत गूंजती रहती थी। लड़कियों के साथ वे फौजी जानवरों की तरह पेश आते थे। लड़कियों को अपनी मेजों पर नंगा कर देते थे या मैदान में नंगे होकर दौड़ते और लड़कियों का पीछा किया करते थे।

मुझे बारबारा की घटना याद है। वह भारतीय क्रिश्चियन थी और बेहद सुन्दर थी। उसे उन फौजियों ने इतना कष्ट दिया था कि वह युद्ध-क्षेत्र से लौटे हुए सैनिक की तरह लगती थी। एक रात किसी टामी ने उसकी जांघ पर टूटा गिलास मार दिया था बहुत खून बहा था—किन्तु अगली रात वह फिर मरहम पट्टी करवा के नाचने आई थी और मैंने उसे हाल के बाहर मैदान में लहूलुहान खरगोश की तरह भागते देखा

था—तीन टामी उसका पीछा कर रहे थे।

रात की काली चादर आकाश में गू गू करते हुए हवाई जहाज़। छावनी के फौजियो के बूटो की आवाजें सेना के ट्रको तथा जीपों की जू जू शराब, संगीत और मास के समुन्दर मे गोते लगाते हुए गोरे फौजी ब्लैक आउट भयानक आवाजो मे चीखते हुए सायरन।

मुझे लगता था कि यह दुनिया मेरी नही है। हर रास्ते पर 'नो एण्ट्री' के बोर्ड थे और पग पग पर कटीले तारो के घेरे थे। मैं भाग खडा हुआ था अपने छोटे से कस्बे की ओर, जहा तमाम आर्थिक दुखो के बावजूद भी लोगो की आखो मे जान-पहचान दिखाई देती थी। ब्राच लाइन की रेलगाडी छोटे छोटे उदास स्टेशन और सूखे पेड, खेत, तारो पर बैठी हुई चिडिया सूने प्लेट-फार्म पर गाडी की प्रतीक्षा करते हुए आवारा कुत्ते और अकेला स्टेशन मास्टर। मैं घर लौट रहा था, ब्राच लाइन की गाडी कूल्हे हिलाती भाग रही थी। खिडकी से सूने प्लेटफार्म को देखता हू, तो एक डिब्बे के बाहर हसिया हथौडे का लाल झण्डा लगा दिखाई देता है। प्लेटफार्म पर उतरकर मैं जिज्ञासाभरी दृष्टि से डिब्बे के यात्रियो को देखता हू—मैं लडने के लिए उस डिब्बे मे घुस जाता हू। ऊपर पहुचकर पता चलता है कि वह 'झण्डा' क्रातिकारी सोशलिस्ट पार्टी का है भगतसिंह और चद्रशेखर आजाद की पार्टी का। उस डिब्बे मे योगेश चटर्जी और यू० पी० पार्टी के सेक्रेट्री केशव मिश्र यात्रा कर रहे थे। मैं अनाप शनाप सवाल पूछता हू, उनसे झगडता हू। पता चलता है कि वे लोग किसी सभा के सिलसिले मे मेरे ही शहर जा रहे हैं। योगेश चटर्जी मुझसे मेरे घर का पता ले लेते हैं और तीसरे दिन मेरे घर पर दस्तक होती है। मुझे लडाई का एक मोर्चा नजर आता है। जिस पर मेरे साथ बहुत से साथी जुटे हुए हैं और इलाहाबाद जाकर मैं इनकलाबी सोशलिस्ट पार्टी का थोडा-बहुत काम करने लगता हू। साथ ही पढाई भी जारी है तमाम पुस्तकें और पर्चे प्रत्येक दिन मिलते हैं जिनमे भारत का एक नया रूप है भारत के बाहर के देशो मे चलने वाली लोकतान्त्रिक लडाई के समाचार हैं उन अफ्रीकी एव गुलाम देशो के समाचार हैं, जहा जनता अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड रही है। इलाहाबाद के चौक में

घण्टाघर के पास है पार्टी का दफ्तर, जिस पर वह लाल झण्डा लहरा रहा है। दूर दूर से लोग साइकिलों पर आते और पोस्टर पर्चों, कागजों तथा अखबारों के बण्डल दबाकर लौट जाते हैं। सबकी आँखों में एक सपना है, एक सफलता की चमक है—मन में आग है। गाजीपुर के किसानों पर अत्याचार किए गए हैं। कानपुर के चमड़ा कारखानों के श्रमिकों की छटनी हुई है। चुंगी के सफाई दरोगा ने नौजवान मेहतरानी की इज्जत लूटी है, दिल्ली की विदेशी सरकार ने जनता की मर्जी के विरुद्ध ऑर्डर दिया है। नेतागण आज प्रातःकाल बन्दी बना लिए गए हैं। दक्षिण अफ्रीका में गोरी सरकार ने गोली चलाई है और उतनी ही तेजी से हमारे प्रस्ताव पारित हो रहे हैं—विरोध, हड़ताल, आंदोलन, भाषण! पार्टी का वह छोटा सा कमरा थरथराता रहता है—'जन क्रांति' अखबार निकलता है और मैं उसमें क्रांतिकारियों की जीवनियाँ और जीवन के हालात लिखता हूँ। वहीं पार्टी के दफ्तर में बैठकर तमाम पुस्तकें पढ़ता हूँ और अपनी असली लड़ाई को पहचानता हूँ। जीवन में जैसे सभी कुछ है, केवल धन नहीं है, लेकिन अब पैसे का अभाव इतना नहीं खलता। इस जीवन में तो ये मुश्किलें झेलनी ही पड़ती हैं। हममें से किसी के पास पैसा नहीं है, कपड़ा नहीं है, जूते नहीं हैं, बिस्तर भी नहीं है, प्रस्ताव हैं, भाषण हैं, योजनाएँ हैं, सपने हैं—इसलिए सब कुछ है।

तभी देश स्वतंत्र होता है और शरणार्थियों की ट्रेनें इलाहाबाद पहुँचती हैं। विभाजन का घाव खाए हुए लुटे पिटे लोग बदहवास आँखों से चारों ओर देखते हैं। देश में पस्त होने वालों के दुःख का बोझ मन पर है। सब कुछ खोकर भी वे परास्त नहीं हुए हैं। बाजू टूट गए हैं, पैर कट गए हैं, आँखों में भयानक रक्तपात की परछाइयाँ हैं लेकिन यह कैसा विचित्र जीव—आदमी है कि अपने आपसे कभी हारता नहीं है।

मैं अन्य स्वयंसेवकों के साथ रात दिन ट्रकों पर रसद और अन्य सामग्री लदवाकर गंगा पार शरणार्थियों के कैम्पों में जाता हूँ। वहाँ फौजियों की वही बैरकें हैं जो कानपुर छावनी में थीं। किन्तु अब खाली हैं। बुरी हालत में हैं। उन्हीं में शरणार्थी कैम्प खोलते हैं, और उजाड़ भयां

नक वैरको मे शरणार्थी एक नया जीवन प्रारम्भ करत ह। वे कक्रीली जमीन साफ करके सब्जियो की क्यारिया बना लेत ह। कोई कोई जगली फूलो के पौधे भी लगा लेते ह। हर सुबह जब हम स्वयसेवकों के केन्द्र मेयो हाल से ट्रका पर सामान लादकर चलत ह तो उन लोगा की शक्लें याद ग्राती ह, जो वहा वीराने म पडे हमारी प्रतीक्षा कर रह हागे। हमारा ट्रक पहुचत ही वे ग्रापस म लडने लगते थे, किन्तु बाद म वही लडन वाला हरेक का भाग लड भगडकर खुद उस दिलवाता था, जिसे नही मिल पाया है। वह लोग ग्रपन छूटे हुए घरा और बिछडे हुए लोगा को याद करके रो पडत थे। वे बेचारे मौत का दरिया पार करके ग्राए थे।

एक दिन सामान बाटन के बाद जब हम लौटन लगे तो एक ग्रधेड ग्रौरत हमारे ट्रक के पास ग्राकर खडी हो गई थी। 'भ्रा जी, हम ग्रस्पताल पहुचा दो, बडी कृपा होगी।" उस स्त्री का कोई नही था। सब घर वाले मारे गए थे। वह ग्रकेली थी ग्रौर दूसरे दिन उसने एक बच्चे को जन्म दिया था।

'जन क्राति' ग्रखबार बराबर निकल रहा था। उसमे मैं कुछ ग्रधिक ही लिखने लगा था। ग्रपने ग्रादर्शों के प्रति ग्रौर भी लगाव बढ गया था। साथियो का दढ निश्चय मेरे विचारो म परिपक्वता ला रहा था। पार्टी के दफ्तर मे एक दिन मैं ग्रकेला था ग्रौर ग्राज्ञा मिली थी कि मैं वहा से हटकर न जाऊ। हमारी पार्टी के नेता काग्रेस के लीडरा से किसी महत्त्वपूर्ण समस्या पर विचार विमर्श करने दिल्ली गए थे। उसके बाद कोइ लौटकर नही ग्राया। पार्टी के जिम्मेदार लोगो ने काग्रेस मे मिलना स्वीकार कर लिया था। ग्रौर मेरे तमाम साथी हताश होकर ग्रपने ग्रपने गाव लौट गए थे। मैं पार्टी दफ्तर मे बैठा लोगो की वापसी की प्रतीक्षा करता रहा। लेकिन कोई वापस नही ग्राया। सारे दस्तावेज, प्रस्ताव, भाषण, सपने—सब बेकार साबित हो गए। ग्रौर प्रतीक्षा करत रहने के बाद जब घबराकर ग्रपने ग्रादर्शों को लेकर सडक पर ग्राया तो दुनिया फिर बदल गई थी। एक रक्त-लोलुप दुनिया मुझे भूखे भेडिये की तरह घूर रही थी।

उधर कालेज म गलत ग्रारोप लगाकर दो वष तक कालिज स निकाल दिया गया था ग्रौर मैं ग्रपन से हारने लगा था कि तभी किसी ने

बहुत अपनत्व से कहा था, "सिरका, प्याज और रोटी भी मिल जाएगी तो भी हम कितने खुश होंगे, घबराने की क्या बात है!"

मैं और मेरा एक साथी तब किसान आंदोलन के सिलसिले में पार्टी आफिस में पकड़ा गया था। हम नैनी जेल में डाल दिया गया—न हम पर चार्ज लगाए गए थे, न हम अदालत के सामने हाजिर किया गया था। हम दोनों अभी उम्र से नाबालिग थे इसलिए उन्नीस दिन बाद जब मुख्य जेनरल राउण्ड पर आए तो हम दोनों को छुटकारा देकर जेल से भगा दिया गया था। जमुना का पुल पार करके तब मैं गऊघाट पर पहुंचा था।

जमुना में छलांग लगाकर आत्महत्या करने की सोच रहा था, क्योंकि अब न पार्टी थी, न जनशक्ति अखबार था, न साथी थे, न सपने थे—सब कुछ बिखर गया था, घर भी बहुत पीछे छूट गया था उस वक्त मेरी पराजय, मेरी हताशा और बुजदिली ने साथ दिया था और मैं गऊघाट से मोहतशिम गंज वाले घर की तरफ लौट रहा था कि रास्ते में हिंदी साहित्य सम्मेलन का पुस्तकालय पड़ा था। थके और दिशाहीन पर यों ही रुक गए थे और मैं पुस्तकालय में बेसबब पहुंच गया था। वहां दीवारों पर वैसी ही तस्वीरें लगी हुई थीं, जैसी मेरी बैठक में लगी थीं और क्षण-भर के लिए लगा था कि जैसे इतने वर्षों के बाद सिद्धार्थ उन्हीं तस्वीरों को दिखाते हुए मुझे बता रहे हों—'यह तस्वीर बाबा की है और यह बाबूजी की है जब बाबूजी का हार्टफेल हुआ था तब तू तो बहुत छोटा था। बाबा को मैंने भी नहीं देखा।' और भारतेंदु हरिश्चन्द्र की तस्वीर बाबा की तस्वीर की तरह ही धुंधली सी थी, और थी प्रेमचंद की तस्वीर जब वह मरे थे तब मैं बहुत छोटा था, और उसी दिन से मेरा परिवार बदल गया था।



मेरी साहित्यिक यात्रा तब से शुरू होती है जब मेरा परिवार बदला था। मैं क्षत विक्षत जमींदार घराना छोड़कर प्रेमचन्द, राहुल, निराला, यशपाल, अमृतलाल नागर के घराने में आ गया था। परन्तु मेरे परिवार के बदलने का पता किसी को न था। मां को कुछ आभास हो

गया था। वह कभी-कभी पूछती थी कि प्रेमचन्द कौन है? मैं उनसे पूछता था कि यह जिसका चित्र बैठक में लगा हुआ है, यह सब कौन है? माँ की आँखें भर आती थीं, साथ ही मेरी भी—यह सोचकर कि बाबूजी का प्यार मिला होता तो शायद मेरे अपरूप बचपन और जीवन के शुरू का सन्नाटा कुछ कम हो जाता, मुझे कोई बताता कि यह दुनिया क्या है इस संसार का नियम क्या है? पता बाबूजी के साथ चले में आज में क्या सुख मिलता है? उनसे पर्चों की माँग करने में कैसा आनन्द आता है।

मैनपुरी का वह बड़ा सा मकान, मई जून की साँय साँय करती दोपहर, उड़ती हुई धूल, तपती हुई दुनिया और निपट अकेला मैं। बाबूजी को खोजता हुआ मैं उस पुराने वाले कुएँ पर चला जाता था, जिसकी पटिया पर उनका हार्टफेल हुआ था। ऊपर छितरा-सा नीम का पेड़, सामने बहता गन्दा नाला, बगल से जाती कचहरी की सड़क पर जाता हुआ कोई खड़खड़ाता इक्का, हाँफता हुआ घोड़ा, देवी के स्थान तक गाती हुई जाने वाली सुहागिनों की टोली— ऐ! मोरा मैया, ऐ! दुर्गा देवी, माथा टेकूँ तुम्हारे द्वार! ऐ मैया मोरी हमको लेउ उबार '

धीरे धीरे दूर कचहरी की सड़क पर सुहागिनों की टोली, जलती धूप में पारे की भाँति काँपकर खो जाती, उनकी आवाज डूब जाती। हाँफता हुआ घोड़ा अड्डे पर पहुँचकर रुक जाता। फिर सन्नाटा छा जाता। और तब मैं कुएँ की तपती हुई जगत पर पड़कर झिलमिलाते पानी में बाबूजी की छाया ढूँढ़ते हुए आवाज लगाता 'बाबूजी बाबूजी!' आवाज ईंटों के गोल घेरों से टकराती हुई नीचे पतले पाताल से टकराती, पानी की झिल-मिलाहट कुछ और तेज होती और कुएँ से ध्वनि आती—'कौन?''

"बाबूजी मैं !"

लेकिन कुआँ फिर खामोश हो जाता। नीम की झड़ती पत्तियाँ चकराती हुई इस अँधेरे कुएँ में खो जातीं फिर कोई ध्वनि लौटकर नहीं आती । आज कई बार अकेला मैं बाबूजी को आवाज लगाने उस कुएँ पर गया, लेकिन वे नहीं बोले। तब से अपना दिलोदिमाग अन्धा कुआँ बन गया है जिसमें मैं निरन्तर आवाज लगाता हूँ बाबूजीऽऽऽ।' कोई आवाज पूछती है कौन?' और जब मैं कहता हूँ 'बाबूजी मैं' तो फिर कोई

उत्तर नही आता।

घोड़े के लिए इक्के वाला था। सुहागिनो की गौरा मैया थी, पर मेर लिए तो कोई नही था। मेरे लिए तो बाबूजी सिफ साए साए करती हुई दोपहर थी। बाबूजी मेरा अकेलापन थे उडती हुई धूल थे नीम की झडती हुई पत्तिया थे गलिया और ककड की सडक थे। मैं यह भी नही सोच पाता था कि कही जाना पडा तो उनके बिना कैसे जाऊगा। पतग के लिए किससे कहूगा सवेरे जब बिब्बन के बाबू जलेबिया लाएगे तो मैं किससे कहूगा—'बाबूजी जलेबिया खाऊगा।

मुझे अच्छी तरह याद है इम्तहानो के समय रमेश के बाबू श्याम चरण बिब्बन के बेचेलाल और मुनुवा के अब्बा मुख्तार साहब अपने बेटा के लिए पेसिला की नोक बना बनाकर दिया करते थे और चबूतरे तक पीठ ठोकत हुए और उनकी हिम्मत बढाते हुए पहुचा जाते थे, जहा से हम टोली बनाकर परीक्षा देने स्कूल जाते थे। तब मेरी अगुलिया मे खून म सनी पट्टिया बधी होती थी, क्योकि तेज ब्लेड से मैं अपनी पेसिल खुद छीलता था। धूल मिला पसीना जब कटी अगुलियो मे चिरचिराता था तो कापी पर 'सन आफ जगदम्बा प्रसाद' लिखते लिखते आखें छलक आती थी और बाबूजी का लिखा हुआ वह नाम कुए मे झिलमिलाते जल की तरह जागकर चुप हो जाता था।

जब बाबूजी इतने कठोर हो गए तो मैंने अपना दिल बहुत कडा कर लिया था और उनके सम्ब ध मे कभी कुछ नही लिखा। एक बार लिखा तो उनसे पूरा बदला ले लिया। 'समुद्र म खोया हुआ आदमी' मे उन्ह मैंने अपने बेटे की प्रतीक्षा करते और तडपत उसी तरह देखा है, जैसे मैं वास्तविक जीवन मे उनकी प्रतीक्षा करता और तडपता रहा हू।

मुझे ठीक तरह याद है रामलीला मे लका दहन हो चुका था। मेरे सब साथी मेले से अपने अपने घरवालो या पिता के सग घर लौट गए थे। रावण के पुतले की जली हुई खपच्ची से मेरा पैर जल गया था और मैं बिलबिलाता हुआ वही गिर पडा था, तब उस अधेरे मे एक आवाज आई थी—कौन ? और मैंने देखा था कुरावली के मोटर-अड्डे पर चाट मिठाई

का ठेला लगाने वाला हलवाई मुझसे कह रहा था—"क्या बेटा ! पैर जल गया चच् चच् ।" उखड़ते मेले से लौटते हुए उसने अपने थाल को सरकाकर साइकिल ठेले पर मेरे लिए जगह बना दी थी और उस पर बिठाकर तीन मील चलकर गली के नुक्कड़ तक मुझे छोड़ गया था। रास्ते मे उसने मुझसे बहुत-सी बातें की थी। उनमें से एक ही अब तक याद है—'बेटा इस संसार का कोई बाप नही है चाहे जितने रावण जलाओ चाहे जितने रामजी सजाओ।'

मुझे नहीं मालूम कि मेले में मेरे पैर जल जाने पर मेरे बाबूजी जगदम्बा प्रसाद क्या कहते, लेकिन उस बाप ने जो कहा था शायद उसे 'कहानीकार पिता' को ही मैं आवाजें लगा लगाकर खोजता रहा था।

मैं अत्यंत विनम्रता से कहना चाहूंगा कि प्रेमचन्द की परम्परा के 'बड़बोला' से मुझे कोई गुरेज नहीं है क्योंकि वे प्रेमचन्द की परम्परा के दावेदार हैं और मैं केवल प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का एक साधारण सा अनुयायी मात्र हूं। जो प्रेमचन्द की थाती के उत्तराधिकारी हैं वे वात्स्यायन के लैंगिक दृष्टिकोण को सराह सकते हैं, जैनेन्द्र के क्षत विक्षत और व्यक्तिवादी संसार में अपने सन्तोष की सामग्री पा सकते हैं, और बड़े भोलेपन से कह सकते हैं—"आंदोलनों से अच्छी कहानी नहीं लिखी जाती। अच्छी कहानी तो गहरे चिन्तन एवं मनन के कारण ही जन्म लेती है।" और फिर वही लोग 'सहज कहानी' का मरियल आन्दोलन चलाते हैं।

मेरे लिए मेरा प्रेमचन्द बुरावली के मोटर अड्डे का वह हलवाई है जो कहता है, 'इस संसार का कोई बाप नहीं है चाहे जितने रावण जलाओ, चाहे जितने रामजी सजाओ।' सही साहित्यिक दृष्टिकोण यदि मुझे प्रेमचन्द से प्राप्त होता है तो सही जीवन की दृष्टि मुझे चाट मिठाई लगाने वाले उस हलवाई से मिलती है मेरा प्रेमचन्द वह ठेले वाला है यही मैंने प्रेमचन्द से सीखा है और इसी को मैं उनकी देन मानता हूं।

बहरहाल—ऊपर से कमाल यह है कि वे साहित्यकार जो प्रेमचन्द के शुक्रगुजार नहीं हैं बल्कि मोहताज हैं, बड़े भोलेपन से आगे कहते हैं—"किन्तु बुराइयां हैं तो बस दो—एक तो यह कि इस धंधे में (यानी आंदोलन में) कहानी बदनाम हो जाती है और दूसरी यह कि जहां दो चार

चतुर खिलाड़ी करतबबाजी दिखाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं वहां पचासों नये लिखने वाले जिनका साहस बढ़ाया जाता और जिन्हें उचित ढंग से मार्ग दर्शन दिया जाता तो वे कुछ रचनाएं भी दे सकते थे। परन्तु वे बेचारे सदैव के लिए भटक जाते हैं। यह वक्तव्य देने वाले उन्हीं निरीह साहित्यकार की यदि याद दिलाऊं तो शायद वे तिलमिला उठेंगे कि जब सन सत्तावन सद्भावना मे एक कमलेश्वर नाम के नये साहित्यकार का दूसरा कथा संकलन 'कस्बे का आदमी' आ रहा था तो उन्होंने अपने पुराने कथा संकलन 'तिरंगे कफन' का नाम बदलकर 'कस्बे का एक दिन' कर दिया था, यह शायद करतबबाजी नहीं थी बल्कि एक साहित्यिक कर्तव्य था! क्योंकि स्वतंत्र भारत में तिरंगे कफन से खतरा था और साहित्य मे, कस्बे की कहानी, गांव की कहानी, पहाड़ी अंचल की कहानी शहरी कहानी इत्यादि चल निकली थी। इसलिए 'कस्बे का एक दिन' शीर्षक साहित्यिक काय बन गया था।

ऐसे भटके हुए वामपंथियों के साथ ही दूसरी ओर हमारे वे शाश्वतवादी और सच पूछिए तो कट्टर हिन्दूवादी लेखक हैं जो कहते हैं कि—"मानव के मन में ईश्वर से प्रार्थना याचना करने की आकांक्षा ही परमेश्वर की पहचान है।" ये शाश्वतवादी लोग निरंतर व्यक्तिगत रूप से अपने राजनीतिक आकाओं को पत्र लिख लिखकर मन में धार्मिक भावना की खोज भी करते रहते हैं और ऊपरी तौर से अपने 'राजनीतिक परमेश्वरों' को यह भी समझाते रहते हैं कि उनके मन में अपने 'परमेश्वरों' के विरोधियों के विरोध की ज्वाला भी धधक रही है और इस तरह वे बड़ी चतुराई से दो नावों में पैर रखकर एक तरफ इन्सानी परम्परा का विरोध करते हुए हिन्दूवादी आत्मवादी साम्प्रदायिक साहित्य लिखते रहते हैं और दूसरी तरफ राजनीतिक संरक्षण का सुख पाते रहते हैं। अपने साहित्यिक अस्तित्व को बनाए रखने के लिए इस प्रकार का जो दो रुखा खेल खेला जाता है, उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। साहित्य में जीवित रहने के लिए जो लोग सांसें ले रहे हैं उन्हें साहित्य और उसका इतिहास मुबारक हो। मैं अपने युग में सभी कठिनाइयों कुरूपताओं और आकांक्षाओं के साथ जी रहा हूं। इस कारण न मैं ईश्वर की आवाज

दे सकता हू न इंदिरा गाधी तक पहुचने के लिए कमलापतियो के पैर छू सकता हू और न दूसरी नावो को साधे रहने के लिए 'जयप्रकाश नारायण' का साथ दे सकता हू। मैं अपने युग के मानव का साथ छोडकर कहीं नही जा सकता क्योकि मेरे युग मे प्रत्येक पिता अपने पिता को खोज रहा है। मेरी अकेली खोज कोई महत्त्व नही रखती यदि वह हमारे युग की सामूहिक खोज का हिस्सा नही है तो ! इसलिए मन के अधे कुए मे अब कमलेश्वर के बाबूजी को ढूढना निरर्थक लगता है, क्योकि सामान्य व्यक्ति के दुख का पता करना अधिक महत्त्वपूर्ण और जरूरी है।

यहा से मेरी उन गर्दिश-भरी कहानियो का आरम्भ होता है जिन्हे कुछ वर्षों पश्चात् हिन्दी के कथा साहित्य मे 'कस्बे की कहानिया' कहा गया। मेरा घराना उसी समय सहसा बहुत बडा हो गया था। पूरा मैनपुरी कस्बा, उसके लोग, उसके पेड, सडकें गलिया, कुत्ते, नाले, घास पात, कुए, चौराहे, सब की ददभरी दास्तानें मेरी हो गई थी। चबूतरे पर बठकर खासते हुए सैय्यद अली पेंटर, चुगी के चौराहे पर चाय की फटीचर दुकान लगाए चाय बाबू मैनपुरी की तम्बाखू खात जौहरी वैद्यजी, एटा से आए बस अड्डे पर काम करते हुए क्लीनर और ड्राइवर, सबकी कहानिया मेरी हो गई थी। वास्तव मे वह समय बडा ही दुख भरा परन्तु अद्वितीय था। मुझे हमेशा लगता था कि उनकी दास्तानें केवल मुझे मालूम हैं आश्चय की बात यह थी कि उन सब लोगो को चोट लगने का दद तो होता था। टी०बी०, बुखार, दमा से होने वाली तकलीफ का भी पता था। परन्तु उन्ह अपनी विवशता, बदहाली, बेपनाह गरीबी आदि के कारणो का आभास तक न था। उन्ह एक बने बनाए जीवन का ढर्रा दे दिया गया था। जिसमे स्त्री बच्चों को जन्म देने की मशीन और पुरुष की काम वासना को तृप्त करने का माध्यम थी। भगी गदगी साफ करने के लिए थे, मेहरी बतन माजने के लिए थी। सपेरे केवल साप का खेल दिखाने के लिए थे, नाई पीढी दर पीढी हजामत बनाने के लिए थे। मण्डी के आढतिए केवल मण्डी के लिए थे। चाट वाले बस खोचा लगाते थे, साइकिल रिपेअर करन वाले केवल साइकिलो की मरम्मत करते थे। चाकू छुरियो पर धार लगाने वाले जीवनपर्यन्त केवल सान चढाने वाला

चक्का खींचते थे, मालिक मालिक ही बने रह जाने के लिए थे और मुनीम मुनीम बने रहने के लिए विवश थे।

अभी कुछ रुका हुआ था जुम्मन को मैंने सवारियों की प्रतीक्षा करते और स्टेशन पर अपना इक्का लगाए बूढ़ा होते देखा था। लगा था कि वह वहीं बैठे बैठे बूढ़ा हो गया है। वह चाय-बाबू जो शुरू-शुरू में बड़े दम-खम से कस्बे में चाय सोडा, लेमन की दुकान लगाकर बैठे थे, उसी टीन की कुर्सी पर बैठे बैठे व्यतीत हो गए। करमचन्द छींट और गजी का कपड़ा नापते नापते ही पोपले हो गए। डाक्टर दुबे के कम्पाउंडर उस कच्चे घर में साँप काटने से मर गए और रहमान का सौतेला बेटा रामलीला के पुतले बनाने लगा पर उसका घर वैसा ही और वहीं रहा। साँपों का डर खत्म नहीं हुआ। साँप पकड़ने वाला गफूर लकड़ियाँ काटते-काटते और ताड़ी पी पीकर एक दिन कुल्हाड़ी से सर टिकाए यूँ ही सोता-सोता चला गया। रमेश की बुआजी उसी तरह दरियाँ बुनती-बुनती आधी पागल हो गईं। कोई लड़का कस्बा छोड़कर भाग गया, कोई भागा हुआ मार खाकर फिर लौट आया था और इमली के पेड़ मौसम पर उसी तरह फूलते रहे काली आँधियाँ उसी तरह आती रहीं, तीज-त्योहार अपने अपने समय पर लौटते रहे, कचहरियों में मुकदमे चलते रहे, पुराने डाक बाबू के स्थान पर नए डाक बाबू आते रहे। फरुखाबाद के कोतवाल मैनपुरी में आ गए। मैनपुरी के कोतवाल आगरा चले गए, पैसेंजर गाड़ियों से दर-सवेर लोग आते रहे। बसों से उतरकर लोग सराय और मण्डियों में क्रय विक्रय करते रहे परन्तु मेरी मैनपुरी का आदमी वहीं रहा वैसा ही रहा, उसके लिए कहीं कुछ नहीं बदला, उसे पता ही नहीं था कि कहीं कुछ बदलता है, कहीं कुछ बदलना चाहिए।

इसी वातावरण में मेरी कहानियाँ, गर्मियों के दिन, राजा निरबंसिया, मुर्दों की दुनिया, देवा की माँ, कस्बे का आदमी, एक सड़क सत्तावन गलियाँ (उपन्यास), भटके हुए लोग, बेकार आदमी, अपनी अपनी आँखें खोलने और सांस लेने के लिए विवश थे।

ये दिन क्रांतिकारी और समाजवादी पार्टी के साथ के दिन भी थे। यही दिन मेरे भाई सिद्धार्थ की मृत्यु के दिन थे। जिन पर टूटे हुए परिवार

की सारी आशाएं लगी हुई थीं क्योंकि सिद्धार्थ के बड़े होते ही हमारे घर की हालत भी सुधर जाती। यह दिन बड़े भाई मन्ना दादा के भयानक संघर्ष के दिन थे, जब वह बारह रुपये माहवार की आमदनी में सारे परि-वार का किसी तरह निबाह कर रहे थे। यही दिन मेरी मां के दुःखों के दिन थे। जब वह मुझे आगे पढ़ाने भेज रही थी और मेरी मैनपुरी मुझसे छूट रही थी। टीन के छोटे से सूटकेस में मेरी तीन कमीजें, एक कुर्ता और तीन पायजामे रखकर मां ने मुझे बनवास दे दिया था और खुद जैसे गांधारी की तरह आंखों पर आंसुओं की पट्टी बांधकर सुख दुःख से अलग होकर वह उस मैनपुरी वाले घर में बिल्कुल अकेली रह गई थी। जगन्नाथ टेलर मास्टर को स्टेशन भेजकर उन्होंने पहले ही इलाहाबाद तक का रेल का किराया मालूम कर लिया था जो उन्होंने धीरे-धीरे जोड़ा था। चलते समय रास्ते के खर्च के लिए उन्होंने बारह आने और दिए। इक्के की भी जरूरत नहीं थी, पैसे भी नहीं थे, इसलिए बचपन के मित्र बिब्बन अपनी साइकिल लिये खड़े थे। चलते-चलते मां ने मेरी हथेली में तांबे का एक पैसा थमाया और कहा था—"रास्ते में नदी पड़ेगी उसमें चढ़ा देना।

डगमगाती साइकिल पर जब अपना छोटा-सा टीन का सूटकेस सम्भाले मैं कैरियर पर बैठकर चला था तो मैंने वही आंसुओं की पट्टी आंखों पर बांधे अपनी गांधारी मां को पलटकर देखा था। वह गली के लोगों से कह रही थी, "कैलाश आगे पढ़ने जा रहा है।" दाहिने हाथ में टीन का बक्स था। बायें बाजू से जब मैंने आंखें पोंछी तो बिब्बन की साइकिल डगमगा गई थी। वहीं नाले की नीची दीवार पर पैर टिकाकर बिब्बन ने सांस ली थी, "यार कैलाश! जब तू बी० ए०, एम० ए० कर लेगा तो समझूंगा मैंने कर लिया। हमें तो जुलाई में नौकरी मिल जाएगी तुम इलाहाबाद से आना तो साइकिल की गद्दी के लिए एक कवर लेते आना—यह साली स्प्रिंग बहुत काटती है।"

बिब्बन ने मुझे स्टेशन पहुंचा दिया था और पैसेंजर गाड़ी से शिकोहा-बाद होता हुआ मैं इलाहाबाद पहुंच गया था। मैनपुरी की यादों से भागने के लिए बाहर देखना बहुत आवश्यक था। रास्ते भर मैं नदी नाले खेत-पेड़, तरह-तरह की घासों और चिड़ियों को देखता अपने में डूबता उत-

रहता चला आया था। फिर तो इतनी बार इलाहाबाद और मैनपुरी के बीच सफर किया कि लगभग हर शहर आने का पता कोई खास रुकने की पानी की टंकी, कोई खास पेड़, कोई खास आवाज, कोई चिड़िया का झुण्ड या कोई महल उस आने वाले स्टेशन या बस्ती का पता दे देती थी।

इलाहाबाद पंत, निराला और महादेवी का नगर है। यह पता मुझे बहुत देर बाद चला था। मेरे लिए इलाहाबाद मोहनसिंह गंज था। ह्वीवेट रोड था, बादशाही मण्डी की जीरो रोड था, बहादुर गंज था और चौक था। मेरी दुनिया पंत, निराला और महादेवी की दुनिया नहीं थी। मेरी दुनिया में उस समय छोटी दुकान वाले, दूध वाले, पण्डे, मानी महल सिनेमा के गेट कीपर, नाजबाई, ए० जी० आफिस में काम करने वाले, प्रयाग कालिज के सामने अखबार बेचने वाले, हुस्न प्रकाशन के सामने रात को पराठे-गोश्त के खोंचे लगाने वाले और पटर्जी टैगर के ऊपर चौथे माले पर क्रांतिकारी पार्टी में काम करने वाले आदमी थे। इलाहाबाद प्रेस के कम्पोजीटर थे और वे राजा आर्टिस्ट जो बाद में माया के लिए स्केचेज बनाने लगे थे और वे गुप्ता भाई जो राजा साइन आर्ट नाम से इलाहाबाद की दुकानों के लिए साइन-बोर्ड पेण्ट किया करते थे।

इन सब में लगातार दो बातें नजर आती थीं—एक तो यह कि ये सभी लोग कहीं न कहीं अलग अलग विश्वासों और परम्पराओं से जुड़े हुए थे। सभी के मन में गद्दी में पैसा कमाने का दस्तूर था और दूसरा इनकी भीड़ की कोई न कोई स्थिति कहीं पर बाट रही थी।

यह सभी लोग बड़े चालाक थे [illegible] इन्सान, लेकिन साथ ही दुखी, मायोसी, कमजोर कोधी स्वार्थी, उनके एक कोमल मना [illegible] थी यह दुनिया [illegible] एक के पास ज्यादा कुछ था जो दूसरे के पास न था। लेकिन ज्यादा भी कुछ था जो सभी का एक ही [illegible] था।

साहित्यिक दल [illegible] तो मेरा परिचय बहुत बाद में हुआ। [illegible] इसी दुनिया के लिए मुझे [illegible] कहीं [illegible] होता, मैं [illegible] के लिए [illegible] परन्तु [illegible] कि [illegible] साहित्यिक [illegible] नहीं। लेकिन मुझे [illegible] कि [illegible] मुझसे [illegible] कहीं [illegible] लिखने का [illegible]

पता मुझे उस समय चला जब मैंने साहित्य का अध्ययन प्रारंभ किया, वरना मैं तो मादस का विद्यार्थी था। मुझे साहित्य वाहित्य से कुछ लेना दना नहीं था। वास्तव म मुझे यदि यथार्थवादी साहित्यकारो की स्वस्थ तथा प्राणयुक्त परम्पराए न मिलतीं तो मैं रेलवे का गाड या इजीनियर होता और वहा उन लोगो के माथ मिलकर मधपरत होता। परन्तु मुझे उक्त परम्परा के साथ साथ मिले दुष्यत, जितन्द्र, ओमप्रकाश श्रीवास्तव, अमरकान्त, ओकार अग्निन, कीरन्द्र महन्दीरत्ता, मारकण्डेय, सतीश पाण्डे, रामकुमार भ्रमर धर्मवीर भारती, अमृतराय, उपेन्द्रनाथ अश्क, बलवत सिंह आदि जस लोग, जिनसे वाद विवाद भी हुआ, सघष भी हुए और अपनेपन का अत्यत सुन्दर समय भी बीता।

इसके उपरात घमासान सग्राम का काल है। नई कहानी का आदोलन इलाहाबाद का साहित्यकार सम्मेलन और प्रगतिशील साहित्यकारो की सभाए मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव के साथ लम्बी लम्बी मुलाकातें और वाद विवाद। दिल्ली के वे दिन, नरेश बेदी, जयत गडकरी, परदुमन सिंह और समय-समय पर मिलते रहने वाले अरविंद कुमार, मुकुल, उदय-नरायन, बुद्धि भटट और तब 'खोई हुई दिशाए', 'अपने देश के लोग', 'दिल्ली मे एक मौत', 'माम का दरिया', 'बयान', 'जाज पचम की नाक', 'नीली झील', 'कुछ नही कोई नही' 'जो लिखा नही जाता', 'पराया शहर', 'डाक बगला' 'लौटे हुए मुसाफिर', 'तीसरा आदमी' लिखे जाने के दिन। यह दिन दिल्ली के दिन थे—जब मैं 'नई कहानियां' का सम्पादन कर रहा था और बाद मे इगित' साप्ताहिक का सम्पादन करने लगा था। इसके बाद मैं बम्बई चला गया—दिसम्बर 66 मे।

फिर बम्बई मे समातर चितन का एक विशाल मच, जिसमे सभी भाषाओ के युवा भारतीय साहित्यकार सम्मिलित हैं जिन्होने मुझे शक्ति दी है और दृष्टि भी। ये सब तो आपके सामने हैं, इन्हीं दिनों लिखी गईं जोखम, रातें, इतने अच्छे दिन, नागमनी मानसरोवर के हस, लाश, हवा है हवा की आवाज नही है, कितने पाकिस्तान, काली आधी, आगामी अतीत इत्यादि।

यह वे वष है—जब मैं 'सारिका' का सम्पादन कर रहा था। यह

दूसरी तरफ एक सार्थक माध्यम टेलीविजन था, कुछ अपने विश्वासों के तहत और कुछ जीने की मजबूरियों के तहत—मैंने दोनों माध्यमों को स्वीकार किया। टेलीविजन पर 'परिक्रमा' कार्यक्रम मेरा विश्वास है, और फिर भी, डाकबंगला, बदनाम बस्ती, सारा आकाश, आंधी मौसम, अमानुष, पति पत्नी और वह, साजन बिना सुहागिन, बर्निंग ट्रेन, राम बलराम, बरसात की एक रात, बाजी आदि तीस पैंतीस फिल्में मेरा कुछ कुछ पूरा होता हुआ विश्वास भी और मजबूरी भी। फिल्मी-दुनिया में 'विश्वास' ने पैसा नहीं दिया, बल्कि विश्वास और मूल्यों के लिए किए गए काम ने पैसा लिया, पर फिल्मी दुनिया की 'मजबूरियों' ने मुझे बहुत पैसा दिया। यह पैसा 'कथायात्रा' के प्रकाशन में लगता रहा और अब इस सुविधा को छोड़कर मुझे दूरदर्शन का माध्यम अपनाना ज्यादा जरूरी लगा, इसलिए वह चमक दमक और लक्ष्मी की दुनिया छोड़कर अब इस तरफ चला आया हूं ताकि जो लिखना और करना चाहता हूं, उसे लिख और कर सकूं।

मुझे तो जो सबसे बड़ा संतोष है वह यह कि मैंने जो कुछ लिखा है वह शब्द शब्द पूर्णतः पढ़ा गया, इस कारण जीवन छोड़कर इतिहास में जाने की आवश्यकता मुझे अब तक प्रतीत नहीं हुई। अंत में इतना कि—मैं, मैं नहीं हूं, मैं केवल एक व्यक्ति हूं और मेरे समय के लोग—सामान्य लोग और युग के समांतर एवं सम्बद्ध और प्रतिबद्ध लेखक मुझे निरंतर पूरा करते हैं। जो मैं नहीं देख पाता, वे देखते हैं, जो मैं नहीं लिख पाता, वे लिखते हैं और यह सिलसिला मेरी कलम से और आगे आनेवाले नये लेखकों की कलम से लगातार चलता रहेगा, तब तक—जब तक आम आदमी का वर्तमान उसे नहीं मिल जाता और उसका भविष्य तय नहीं हो जाता। मेरी गर्दिश/मेरी मौत जो बहुत दूर है, वे बाद समाप्त हो जाएंगी लेकिन कलमों की गर्दिश तब तक जारी रहेगी, जब तक दुःख, अन्याय, शोषण, अत्याचारों की मौत नहीं होगी।

●●●

211280